वर्ष : 1 | अंक : 1 (जनवरी-मार्च 2026)

प्रवेशांक

साहित्य संस्कृति पत्रिका

(साहित्य, समाज एवं संस्कृति की बहुविषयक-बहुभाषी त्रैमासिक ई-पत्रिका)

प्रधान संपादक

डॉ. अनिल कुमार

साहित्य संस्कृति पत्रिका (त्रैमासिक)

साहित्य और संस्कृति का संगम

वर्ष: 01, अंक: 01, जनवरी-मार्च- 2026 Volume: 1, Issue: 01, Period- January-March **2026**

संस्थापक : डॉ. अनिल कुमार एवं डॉ. रमन कुमार
संरक्षक मंडल : प्रो. के. एन. तिवारी, प्रो. दर्शन पाण्डेय
परामर्श मंडल : प्रो. जय कौशल, प्रो. प्रदीप कुमार, प्रो. हरिन्द्र कुमार शर्मा, प्रो. हितेन्द्र कुमार मिश्र, राजकुमार माठी, डॉ. शकुंतला कालरा
संपादक मंडल
प्रधान संपादक : डॉ. अनिल कुमार
संपादक- डॉ. नीतू गुप्ता
सह-संपादक : डॉ. गीता पाण्डेय, डॉ. चेतना शर्मा, डॉ. रमेश चन्द्र नैलवाल/ प्रो. जगदेव कुमार शर्मा

विषय विशेषज्ञ समिति (हिंदी) : डॉ. अमिता, डॉ. नीतामणि बरदलै, डॉ. फिल्मेका मारबानियांग, डॉ. तरुण कुमार, डॉ. कृष्ण कुमार साह
विषय विशेषज्ञ समिति (अंग्रेजी) : डॉ. चेतना शर्मा, डॉ. दीपक कुमार साही एवं डॉ. सौनली मौर्य
विषय विशेषज्ञ समिति (संस्कृत) : डॉ. भास्कर उप्रेती, डॉ. रमेश, डॉ. विरमा कुमारी, डॉ. अवधेश कुमार एवं डॉ. संदीप कुमार
विषय विशेषज्ञ समिति (इतिहास) : प्रो. रंजन कुमार, डॉ. अंश कुमार, डॉ. संदीप निरवाल एवं डॉ. रोबिन
विषय विशेषज्ञ समिति (राजनीतिक विज्ञान) : डॉ. दीपक, गंधर्व कौशीय, डॉ. पवन सिंह, डॉ. शिखा शर्मा एवं डॉ. सनोज राणा
विषय विशेषज्ञ समिति (समाजशास्त्र) : डॉ. वंदना कुमारी
विषय विशेषज्ञ समिति (भूगोल) : डॉ. पंकज कुमार
विषय विशेषज्ञ समिति (दर्शनशास्त्र) : डॉ. देशराज सिरसवाल
विषय विशेषज्ञ समिति (ड्राइंग और पेंटिंग) : डॉ. बबीता
तकनीकी सहयोगी सदस्य : कृष, रक्षित
सक्रिय सहयोगी सदस्यों की सूची : कुमारी रीना (संस्कृत), डॉ. सुरेन्द्र, लोकेश कुमार, कंचन, पूजा, सुचित्रा, चित्रा एवं डॉ. अंशु राज, मनीष कुमार, सौरभ

अव्यवसायिक पत्रिका
पत्रिका की सदस्यता नि:शुल्क है।
बैंक खाता विवरण
बैंक का नाम : इंडियन बैंक
शाखा : स्वामी श्रद्धानंद कॉलेज (6455)
खाताधारक : ANIL KUMAR
खाता संख्या : 50254706354
IFSC CODE- IDIB000S806
पत्राचार और वर्तमान पता : मकान न.- 65, मोहम्मद पुर अलीपुर, दिल्ली-110036

साहित्य संस्कृति पत्रिका (त्रैमासिक) में प्रकाशन हेतु प्राप्त रचनाओं के चयन और प्रकाशन से संबंधित निर्णय संपादक मंडल द्वारा सामूहिक विचार-विमर्श के आधार पर किए जाते हैं। पत्रिका में प्रकाशित लेखों, कविताओं, समीक्षाओं तथा अन्य रचनाओं में व्यक्त विचार संबंधित लेखकों के व्यक्तिगत विचार हैं, जिनसे संपादक मंडल या प्रकाशक की सहमति होना आवश्यक नहीं है। संपादक मंडल को प्राप्त सामग्री का संपादन करने, भाषा अथवा संरचना में आवश्यक परिवर्तन करने तथा आवश्यकता पड़ने पर उसे संक्षिप्त या परिवर्तित करने का अधिकार सुरक्षित रहेगा। पत्रिका में प्रकाशित किसी भी सामग्री का पुनर्प्रकाशन, अनुवाद या किसी अन्य माध्यम में उपयोग संपादक मंडल की पूर्व लिखित अनुमति के बिना नहीं किया जा सकेगा। पत्रिका से संबंधित किसी भी प्रकार के विवाद अथवा विधिक प्रकरणों का क्षेत्राधिकार केवल दिल्ली न्यायालय के अंतर्गत होगा।

संरक्षक की ओर से शुभकामना संदेश

'साहित्य संस्कृति पत्रिका' (त्रैमासिक) को हिंदी साहित्य, सांस्कृतिक अध्ययन और सामाजिक विमर्श के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण अकादमिक पहल के रूप में देखा जा सकता है। समकालीन परिदृश्य में जहाँ साहित्यिक अध्ययन निरंतर नए वैचारिक संदर्भों, सामाजिक प्रश्नों और सांस्कृतिक संरचनाओं से संवाद कर रहा है, वहीं इस प्रकार की गंभीर और शोधोन्मुख पत्रिकाओं की आवश्यकता और अधिक स्पष्ट हो जाती है। इस दृष्टि से पत्रिका का प्रवेश अंक साहित्यिक और अकादमिक जगत के लिए एक सार्थक उपलब्धि के रूप में स्थापित होने की संभावना रखता है। सामान्य तौर पर देखा जाए तो साहित्य और संस्कृति का अंतर्संबंध किसी एक कालखंड या प्रवृत्ति तक सीमित नहीं रहा है। साहित्य समयानुसार सामाजिक अनुभवों, ऐतिहासिक स्थितियों और वैचारिक संघर्षों को अभिव्यक्त करता है, संस्कृति उन अनुभवों को सामूहिक चेतना, परंपरा और सामाजिक व्यवहार के रूप में संरक्षित करती है। यह प्रयास इसी अंतर्संबंध को केंद्र में रखते हुए रचनात्मक और आलोचनात्मक लेखन को व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों में देखने की दृष्टि प्रदान करता है। इस प्रकार साहित्यिक अध्ययन को पाठ-केंद्रित विश्लेषण से आगे ले जाकर बहु-विषयक संवाद की दिशा में ले जाया गया है। वर्तमान समय में साहित्यिक अध्ययन के सामने अनेक वैचारिक चुनौतियाँ उपस्थित हैं। बाजार केंद्रित प्रवृत्तियाँ, तात्कालिक लोकप्रियता की संस्कृति और सतही उपभोग साहित्यिक गंभीरता को प्रभावित करती रही हैं। ऐसे वातावरण में अकादमिक संस्थाओं और शोध पत्रिकाओं की भूमिका और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। यह प्रकाशन साहित्य को सामाजिक उत्तरदायित्व, वैचारिक स्पष्टता और बौद्धिक अनुशासन के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास करता है, जिससे साहित्य को विचार और विवेक के क्षेत्र में पुनः प्रतिष्ठित किया जा सके।

इस पहल की एक उल्लेखनीय विशेषता इसका विधागत विस्तार है। कविता, कहानी, निबंध, आलोचना, शोध-आलेख, संस्मरण, आत्मकथात्मक लेखन और समीक्षा जैसी विधाओं को समान अकादमिक महत्त्व प्रदान किया गया है। इस बहुविध दृष्टिकोण के माध्यम से साहित्य को एक समग्र अध्ययन क्षेत्र के रूप में देखा गया है, जहाँ रचनात्मकता और आलोचना परस्पर संवाद की स्थिति में उपस्थित रहती हैं। विश्वविद्यालय स्तर पर साहित्यिक अध्ययन के लिए यह दृष्टि विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हो सकती है। समाज के हाशिए पर स्थित वर्गों के जीवनानुभवों को साहित्यिक विमर्श में स्थान देना समकालीन अध्ययन की एक आवश्यक शर्त बन चुकी है। दलित, स्त्री, आदिवासी, अल्पसंख्यक और श्रमिक समुदायों के अनुभव साहित्य को सामाजिक यथार्थ के अधिक समीप लाते हैं। इस पत्रिका में इन अनुभवों को अकादमिक गंभीरता के साथ प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति दिखाई देनी चाहिए, जिससे साहित्यिक अध्ययन अधिक समावेशी और समाजोन्मुख बन सके। साहित्यिक आलोचना और सिद्धांत किसी भी अकादमिक परंपरा की आधारशिला माने जाते हैं। आलोचना रचनात्मक साहित्य को वैचारिक गहराई प्रदान करती है और पाठक को विवेकपूर्ण दृष्टि विकसित करने में सहायता करती है। यहाँ आलोचनात्मक लेखन को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि साहित्य को गंभीर बौद्धिक विमर्श के माध्यम के रूप में ग्रहण किया गया है। आलोचना के माध्यम से रचनाओं को सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भों में समझने की संभावना सुदृढ़ होती है। शोधपरक लेखन विश्वविद्यालयी अध्ययन का केंद्रीय आधार होता है, जो कि साहित्यिक इतिहास, सिद्धांत और समकालीन विमर्श को अकादमिक अनुशासन प्रदान करता है। इस पत्रिका में शोध आलेखों के लिए समीक्षक आधारित मूल्यांकन प्रणाली अपनाई गई है, जो अकादमिक विश्वसनीयता और गुणवत्ता को सुनिश्चित करने की दिशा में एक आवश्यक कदम है। डिजिटल माध्यमों के विस्तार ने साहित्यिक प्रकाशन के स्वरूप को व्यापक

रूप से प्रभावित किया है। ऑनलाइन प्लेटफॉर्म साहित्य को व्यापक पाठक वर्ग तक पहुँचाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। ऐसे में इस पत्रिका का दायित्व बढ़ जाता है, जो आने वाले समय में साहित्य प्रेमियों, शिक्षकों, शोधार्थियों और विद्यार्थियों के लिए साहित्य, समाज और संस्कृति से जुड़ी सामग्री आसानी से उपलब्ध करवाने में अपना योगदान सिद्ध करेगी।

किसी भी शोध पत्रिका की पहचान उसके संपादकीय दृष्टिकोण और संपादन मंडल की अकादमिक प्रतिबद्धता से निर्धारित होती है। यहाँ संपादन मंडल साहित्य, संस्कृति और शोध के क्षेत्र में अनुभव तथा विशेषज्ञता से संपन्न विद्वानों से गठित है। यह मंडल वैचारिक दिशा, अकादमिक मानकों और प्रकाशन नीति को संतुलित रूप में संचालित करता है, जिससे इसकी दीर्घकालिक प्रतिष्ठा सुनिश्चित होती है। युवा शोधार्थियों और नवोदित लेखकों को अकादमिक मंच प्रदान करना शोध पत्रिकाओं का एक महत्त्वपूर्ण दायित्व माना जाता है। इस संदर्भ में यह प्रयास नए शोध विषयों, नवीन दृष्टिकोणों और समकालीन प्रश्नों को स्थान देकर साहित्यिक अध्ययन को जीवंत बनाए रखने में सहायक सिद्ध हो सकता है। साहित्य का अध्ययन सामाजिक चेतना और बौद्धिक उत्तरदायित्व से अलग नहीं किया जा सकता। यह प्रकाशन साहित्य को सामाजिक आत्मचिंतन और सांस्कृतिक विश्लेषण के माध्यम के रूप में प्रस्तुत करता है तथा पाठक को समाज और संस्कृति को समझने की व्यापक दृष्टि प्रदान करता है। एक संरक्षक के रूप में ऐसी आशा करता हूँ कि यह त्रैमासिक पत्रिका अपने अकादमिक उद्देश्यों और प्रकाशन नीति के अनुरूप निरंतर प्रगति करेगी तथा विश्वविद्यालयों, शोध संस्थानों और साहित्यिक जगत में एक विश्वसनीय, गंभीर और शोधोन्मुख मंच के रूप में अपनी पहचान स्थापित करेगी। इस प्रयास से जुड़े सभी संपादक, लेखक, शोधार्थी और पाठक बधाई के पात्र हैं।

प्रो. के. एन. तिवारी

संरक्षक

संपादकीय

समकालीन समाज निरंतर परिवर्तनशील संरचनाओं के बीच अपना स्वरूप गढ़ रहा है। सामाजिक संबंधों, सांस्कृतिक मूल्यों, ज्ञान-प्रणालियों और वैचारिक प्रवृत्तियों में हो रहे परिवर्तनों ने साहित्य की भूमिका को अधिक जटिल और उत्तरदायी बना दिया है। आज साहित्य न तो आत्मकेंद्रित सौंदर्य-बोध तक सीमित रह सकता है और न ही वह सामाजिक यथार्थ से पृथक रहकर अपनी प्रासंगिकता बनाए रख सकता है। ऐसे समय में साहित्यिक पत्रिकाओं का दायित्व एक वैचारिक मंच उपलब्ध कराने तक विस्तृत हो जाता है, जहाँ रचनात्मकता, आलोचना और शोध परस्पर संवाद में हों। साहित्य संस्कृति पत्रिका (त्रैमासिक) का यह प्रवेश अंक इसी वैचारिक जिम्मेदारी की चेतना से संपादित किया गया है। साहित्य को किसी समाज की बौद्धिक और सांस्कृतिक चेतना से निर्मित माना जाता रहा है। वह इतिहास के पन्नों से अलग जीवन के उन अनुभवों को अभिव्यक्त करता है, जो सामान्यतः सत्ता-केंद्रित विमर्शों में उपेक्षित रह जाते हैं। इस दृष्टि से साहित्य सामाजिक स्मृति का वाहक बनता है। यहाँ संकलित रचनाएँ और आलेख समाज की इसी स्मृति को पुनः सक्रिय करने का प्रयास करते हैं। ये लेखन-रूप सामाजिक यथार्थ को अनुभव और विचार के संतुलित समन्वय से उसे पाठकीय विवेक के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में तकनीक और सूचना के प्रसार ने ज्ञान के स्वरूप को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। डिजिटल माध्यमों ने संवाद की गति तो बढ़ाई है, परंतु इसके साथ ही गहन अध्ययन और आलोचनात्मक विवेक के लिए चुनौतियाँ भी उत्पन्न की हैं। त्वरित प्रतिक्रियाओं और सतही अभिव्यक्तियों का दबाव साहित्यिक विमर्श को प्रभावित करता रहा है। इस संदर्भ में यह आवश्यक हो जाता है कि साहित्यिक मंच विचारों की तात्कालिकता से आगे जाकर दीर्घकालिक बौद्धिक चिंतन को प्रोत्साहित करें। इस संपादन-प्रयास में यही संतुलन साधने का प्रयास किया गया है। भारतीय समाज की सांस्कृतिक संरचना बहुलतावादी रही है। विभिन्न भाषाएँ, जीवन-दृष्टियाँ, धार्मिक-सांस्कृतिक परंपराएँ और सामाजिक अनुभव यहाँ सहअस्तित्व में रहे हैं। साहित्य ने इस बहुलता को अपनी रचनात्मक संरचना में स्थान दिया है। इस अंक में भी यह बहुलता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। कविता, कहानी, नाटक, संस्मरण, आत्मकथात्मक लेखन, शोध आलेख आदि सभी विधाओं में विविध सामाजिक अनुभवों की अभिव्यक्ति मिलती है। यह विविधता साहित्यिक संवाद को अधिक समृद्ध बनाती है। कविता में संवेदना की गहराई और भाषा की संप्रेषणीयता पाठक को सामाजिक यथार्थ के सूक्ष्म स्तरों से जोड़ती है। यहाँ संकलित कविताएँ निजी अनुभवों के माध्यम से व्यापक सामाजिक संरचनाओं की ओर संकेत करती हैं। ये रचनाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि व्यक्तिगत पीड़ा और सामाजिक अन्याय परस्पर जुड़े हुए हैं। कविता इस संबंध को भावात्मक स्तर पर उद्घाटित करती है।

कहानी विधा सामाजिक जीवन के बहुआयामी यथार्थ को कथात्मक संरचना में प्रस्तुत करती है। परिवार, सत्ता-संबंध, आर्थिक असमानता, लैंगिक प्रश्न और पहचान की राजनीति जैसे मुद्दे इन कहानियों के केंद्र में उपस्थित हैं। कथ्य और शिल्प के संतुलन के साथ ये रचनाएँ समाज की जटिलताओं को पाठकीय चेतना के समक्ष रखती हैं। नाटक और रंगमंच सामाजिक संवाद का सशक्त माध्यम रहे हैं। मंचीय प्रस्तुति के माध्यम से विचारों को सामूहिक अनुभव में रूपांतरित करने की क्षमता नाटक को विशिष्ट बनाती है। इस अंक में नाट्य-विमर्श को सामाजिक चेतना के निर्माण के संदर्भ में देखा गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि रंगमंच आज भी सामाजिक बदलाव का प्रभावी साधन बना हुआ है। संस्मरण और आत्मकथा जैसी विधाएँ व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से सामाजिक इतिहास

का वैकल्पिक पाठ प्रस्तुत करती हैं। स्मृति यहाँ निजी न रहकर सामूहिक अनुभव में परिवर्तित होती है। यह लेखन इतिहास की उन परतों को उद्घाटित करता है, जो औपचारिक इतिहास-लेखन में अनुपस्थित रहती हैं। इस दृष्टि से ये विधाएँ सामाजिक अध्ययन के महत्त्वपूर्ण स्रोत बनती हैं। शोध-आलेखों के चयन में अकादमिक अनुशासन को विशेष महत्त्व दिया गया है। संदर्भ-सजगता, तर्क की संगति और निष्कर्षों की स्पष्टता इन मानकों के अनुरूप लेखों को स्थान दिया गया है। यहाँ शोध को ज्ञान-संचय की प्रक्रिया के साथ आलोचनात्मक रूप में देखा गया है। इस दृष्टिकोण से शोध-आलेख साहित्यिक विमर्श को वैचारिक गहराई प्रदान करते हैं।

युवा शोधार्थियों और नवोदित लेखकों की सहभागिता इस प्रयास का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। नई पीढ़ी के लेखक सामाजिक यथार्थ को नए अनुभव-बोध के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं। उनका लेखन साहित्यिक परंपरा को नवीन दृष्टि प्रदान करता है। यहाँ उनके विचारों को संवाद के केंद्र में लाने का प्रयास किया गया है। संपादन की प्रक्रिया को एक सामूहिक बौद्धिक अभ्यास के रूप में ग्रहण किया गया है। चयन, संपादन और प्रस्तुति इन सभी चरणों में वैचारिक पारदर्शिता और अकादमिक संतुलन को प्राथमिकता दी गई है। समीक्षकों और परामर्शदाताओं की भूमिका इस प्रक्रिया में निर्णायक रही है। उनके सहयोग से सामग्री की गुणवत्ता सुनिश्चित की गई है। भविष्य की दिशा में यह प्रयास साहित्यिक और अकादमिक समुदाय के बीच संवाद को और अधिक सुदृढ़ करने की दृढ़ता रखता है। नए विषय, उभरते विमर्श और विविध सामाजिक अनुभव आगामी अंकों का हिस्सा बनेंगे। विश्वविद्यालयों, शोध संस्थानों और स्वतंत्र लेखन-जगत से जुड़े विद्वानों के साथ निरंतर संवाद इस यात्रा को आगे बढ़ाएगा। अंततः साहित्य और संस्कृति मनुष्य को उसकी सामाजिक जिम्मेदारियों का बोध कराते हैं। ये उसे अपने समय, समाज और इतिहास से संवाद करने की दृष्टि प्रदान करते हैं। यह संपादकीय उसी संवाद की भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पाठकों की आलोचनात्मक सहभागिता इस प्रयास को अर्थपूर्ण बनाएगी। इसी विश्वास के साथ यह अंक सभी साहित्यिक विद्वानों और संस्थानों को समर्पित है।

डॉ. अनिल कुमार
(प्रधान संपादक)
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी
स्वामी श्रद्धानंद कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

साहित्य संस्कृति पत्रिका (त्रैमासिक)
साहित्य एवं संस्कृति का संगम
वर्ष : 01 | अंक : 01 (जनवरी-मार्च 2026) Year: 01 | Issue: 01 (January-March 2026)
साहित्य, समाज एवं संस्कृति की बहुविषयक-बहुभाषी ई-पत्रिका Multidisciplinary-Multilingual E-Magazine Of Literature, Society And Culture

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

शुभकामना संदेश

संपादकीय

कहानी

1. प्रतिशोध- **डॉ. पूरन सिंह** **01**
2. विष्णुपद की प्रतीक्षा- **'शिवम यादव 'अंतापुरिया'** **08**

कविता

1. अँधेरी रात (अन्य चार कविताएं) - **राजेन्द्र सजल** **12**
2. विदाई- **प्रो. प्रदीप कुमार** **17**
2. गजल- **श्याम निर्मोही** **19**

शोध आलेख

1. पंत के काव्य में नारी : आदर्श, प्रतीक और सीमाएँ
   एक सैद्धांतिक एवं ऐतिहासिक विमर्श- **डॉ. रंजन पाण्डेय** **20**
2. 'जंगल के फूल' उपन्यास में मानवीयता की अभिव्यक्ति- **डॉ. तरुण कुमार** **28**
3. भारतीय उपमहाद्वीप में सूफीवाद, कव्वाली और कव्वालों की वर्तमान स्थिति- **डॉ. सिम्मी चौहान** **34**
4. आदिवासी केन्द्रित समकालीन हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त आर्थिक संघर्ष- **अनुज कुमार** **39**
5. भारतीय संविधान, जनजाति विकास और स्वशासन- **डॉ. नरेंद्र कुमार** **44**
6. जनजातीय गौरव का प्रतीक बिरसा मुंडा- **डॉ. अमिता** **49**
7. मानवीय अनुभूति से ओतप्रोत: 'वक़्त रुकता नहीं'- **डॉ. रमन कुमार** **53**
8. ऋग्वेद मण्डल-मणि-सूत्र प्रथम मण्डल- स्वास्थ्य एवं विद्या- **डॉ. विरमा कुमारी** **60**
9. पंजाब में बौद्ध स्थापत्य कला और पुरातात्विक स्थलों का अध्ययन- **अंश कुमार** **66**
10. वर्तमान सरकार डॉ. अम्बेडकर दूरदर्शिता: महिला सशक्तिकरण के पथ पर- **महिमा** **71**
11. A Spiritual Journey Through Sri Aurobindo's Lenses- **Dr. Chetna Sharma** **79**
12. From Steam-Boats to Rail-Network:
    evolution of transportation in Bihar- **Deepak Kumar Shahi** **87**
13. The Real of the Virus- **Michael KC Thanga** **94**

डॉ. पूरन सिंह
पता : 240 एवं 935 डी बाबा फरीदपुरी,
वेस्ट पटेल नगर, नई दिल्ली- 110008
संपर्क सूत्र : 9868846388
ईमेंल पता : drpuransingh64@gmail.com

प्रतिशोध

सामाजिक दबाव या राजनैतिक प्रभाव का मुझ पर कभी कोई असर नहीं हुआ। मेरा उद्देश्य हमेशा यही रहा कि जिस जिले में मेरी पोस्टिंग हुई, वहां किसी भी तरह का धार्मिक उन्माद या जातिगत अत्याचार न हो। आप सभी मेरे अधीनस्थ हैं। मेरे साथ काम करने पर आप देखेंगे कि आपको ऐसा कभी भी महसूस नहीं होगा। मेरे प्रशासन में किसी तरह की रिश्वतखोरी या अनुशासनहीतना बर्दाश्त नहीं की जाएगी। मैं यह भी ध्यान रखूंगा कि आप सभी अधिकारियों को कोई अनावश्यक तंग न करे। मुझे लगता है कि आज के लिए इतना काफी हैं। अच्छा हां, एक बात और मैं आपको बता दूं...मैं समाज में हाशिए पर फेंके गए समाज से हूं। नाम आप जानते ही हैं फिर भी, आर. पी. जयंत हूं- मैं। ये सब इसलिए बता रहा हूं कि पिछले जिलों में, मेरे अधीनस्थ, अपना अधिकांश समय मेरे बारे में पता करने में ही लगा देते थे। ऐसा यहां न हो। कुछ भी जानना हो, बिना किसी रोक-टोक, आप मुझसे मिल सकते हैं यहां अर्थात मेरे कार्यालय में या मेरे घर पर भी। कोई और बात हो या कुछ इन्क्वायरी हो, तो मुझे बताएं। नहीं तो आज की यह पहली मीटिंग मेरी ओर से सम्पन्न होती है। यह नए आए कलक्टर साहब की जिला मुख्यालय पर पहली मीटिंग थी। इंट्रोडक्टरी। जिसमें जिले के सातों एसडीएम, तहसीलदार, मुख्य चिकित्साधिकारी, एसपी साहब और तमाम अधीनस्थ अधिकारी मौजूद थे।

कलक्टर साहब के बारे में लोगों ने पहले ही जानकारी इकट्ठी कर ली थी। वे बहुत ही ईमानदारी और नेक दिल, कड़क और विन्रम, अनुशासनप्रिय और सरल व्यक्तित्व के धनी हैं। पिछले जिलों में उन्होंने सरकारी योजनाओं का सफल कार्यान्वयन किया है। जहां भी रहे, उनके साथ काम करने वाले और जिले के तमाम लोग उनकी प्रशंसा करते हैं। सुनने में तो यहां तक आया है कि बदायूं जिले से जब उनका ट्रांसफर यहां के लिए हुआ और जब उनकी विदाई हो रही थी तो लोग आंसुओं से रो रहे थे। एक अधिकारी के लिए इससे बड़ा पारितोषिक और हो भी क्या सकता है। लोग कहते हैं कि गरीब, गुर्वा उन्हें अपना देवता मानते हैं। खैर, जो भी रहा हो, कुल मिलाकार, वे एक अच्छे अधिकारी हैं, ये तो स्पष्ट हो गया था। अब देखना था इस जिले में क्या होता है।

मीटिंग की समाप्ति पर सभी ने चाय-पानी किया। धीरे-धीरे लोग अपने-अपने कार्यालयों को जाने लगे तो राजस्व अधिकारी देवकीनंद शर्मा ने यह भी, अपनी खुफिया जानकारी से बता दिया कि साब अर्थात कलक्टर साहब इसी जिले के हैं और जाटव हैं। इससे जहां समाज के दबे-कुचले अधिकारियों में खुशी की लहर दौड़ गई थी, वहीं सवर्ण और सवर्ण मानसिकता के अधिकारियों और कर्मचारियों में लगभग मातम की स्थिति थी।

कलक्टर साहब को आए अब एक महीना बीत गया था। जैसा सुना था, वे वैसे ही निकले। सवर्ण अधिकारियों के मन में बंधी पूर्वधारणा धराशाही हो गई थी। कलक्टर साहब सभी के साथ एक समान बर्ताव करते थे।

जिले में माफियाराज समाप्त हो रहा था। रिश्वतखोरी पर लगाम कसी जा रही थी। स्वास्थ्य सेवाएं पहले जैसी नहीं थीं। काफी कुछ ठीक होने की ओर था कि....कि....एक दिन कुछ लोग उनके आफिस आए थे। ये लोग बंसतपुर गांव से थे। कहने को तो बंसतपुर गांव है लेकिन यहां सुख-सुविधाएं सभी हैं। शीतलपुर तहसील में आता है।

आठ-दस लोग थे। कलक्टर साहब ने अपने कमरे में ही बुला लिया था उन्हें।

हां! तो बताएं, क्या परेशानी है, आपको। क्या हुआ जो आपको मुझ तक आना पड़ा। शीतलपुर तहसील के तहसीलदार तो आर के सक्सेना जी हैं और एस.डी.एम देवेन्द्र मिश्रा वहां का सभी प्रशासानिक कार्य देखते हैं। कलक्टर साहब को सब कुछ उनकी उगंलियां पर रटा है। 'सर वहां एक घटना हो गई है।' आए हुए लोगों में से एक बोला था, 'घटना बहुत दु:खद है।'

'पूरी बात बताओ।' कलक्टर साहब सतर्क और परेशान होने लगे थे।

'साहब बसंतपुर गांव में ही एक माध्यमिक विद्यालय है, संभवामि माध्यमिक विद्यालय। उसके प्रिंसिपल साहब हैं रामरतन पाठक जी।' वह व्यक्ति और भी कुछ बोलता रहा था लेकिन कलक्टर साहब के दिमाग में न जाने क्यों रामरतन पाठक क्लिक कर रहा था। तभी तो वह व्यक्ति बोला था- 'सर।' 'जी.....जी.....हां बताएं।' कलक्टर साहब सकपका गए थे मानो कोई चोरी पकड़ी गई हो।

तो सर, उस स्कूल के प्रिंसिपल पाठक जी ने पास के ही एक गांव के लड़के से स्कूल का पाखाना अर्थात टॉयलेट साफ करवाया और जब टॉयलेट खूब साफ हो गया तो उस लड़के ने कहा कि अब मैं जाऊं तो प्रिंसिपल साहब ने ये कहते हुए कि ऐसे साफ किया जाता है टॉयलेट, उस छात्र को खूब मारा। फिर स्कूल के पीटीआई को बुलाकर उनसे कहा कि इस लड़के को अनुशासनहीनता के लिए दण्ड दो।.....साहब, फिर पीटीआई ने लड़के को इतना मारा कि लड़का बेहोश हो गया। वह लड़का अभी बसंतपुर के सरकारी हस्पताल में भर्ती है। उसकी हालत खराब है। स्थानीय लोग राजनीति कर रहे हैं और साहब.....और साहब.....उस लड़के के परिजनों पर अनावश्यक दबाव बना रहे हैं। प्रिंसिपल रामरतन पाठक प्राय: गरीब और कमजोर परिवारों के बच्चों को इसी तरह परेशान करता है। सर, वह चाहता है कि गरीबों के बच्चे पढ़ें ही न और इसमें उसका साथ पीटीआई एस.पी सिंह देता है। साहब..... 'गरीबों के बच्चे पढ़ेंगे नहीं क्या।'

क्यों नहीं पढ़ेंगे। जरूर पढ़ेंगे। अच्छा एक बात बताओ। ये रामरतन पाठक वही आदमी तो नहीं है जो सिर गंजा रखता है और माथे पर लम्बा-सा तिलक लगाता है। जनेऊ को बाहर की ओर लटकता छोड़ देता है ताकि दिखाई देता रहे। उसकी एक आंख भी कमजोर है। मुझे लगता है, वही होना चाहिए। कलक्टर साहब का निशाना सही लगा था।

जी साहब वही है। आप जानते हैं उसे? सभी ने एक स्वर में पूछा।

हां, नहीं।' कहा था कलक्टर साहब ने और आश्वस्त किया था कि इस मामले की जांच वे स्वयं करेंगे। विद्यालय भी आएंगे और हस्पताल भी जाएंगे। जितना संभव होगा उस छात्र की मदद करेंगे। फिर आगे बोले थे ठीक है आप लोग अब चलें। फिक्र न करें। स्कूल के प्रिंसिपल को बख्शा नहीं जाएंगा।

लोगों ने कलक्टर साहब को प्रणाम किया था। आभार माना था और चले गए थे। लेकिन.....लेकिन कलक्टर साहब.....रामरतन पाठक यू.....रामरतन पाठक.....तुम नहीं सुधरोगे, कहते-कहते न जाने कहां खो गए थे। न जाने कौन उनके कानों में चीखने लगा था.....'रमपला, यहां आ' प्रिंसिपल साहब चीखे थे। प्रिंसिपल साहब अर्थात प्रिंसिपल रामरतन पाठक।

'जी, जी साहब।' घिघियाए थे रामपाल।

'तू ऐसा कर। स्टाफ रूम के साथ लगे बाथरूम और मेरे कमरे से अटैच बाथरूम को साफ कर दे और सुन.....ढंग से साफ करना। जरा सा भी गंदा रह गया तो चूतड़ों की खाल उधेड़ दूंगा।' प्रिंसिपल साहब ने आदेश दिया था।

'साहब कोई कमी नहीं रहने दूंगा।' बोला था रामपाल।

'ठीक है जा। अब मुंह क्या ताक रह है। मारूँ दो मुंह पर।' डराया था प्रिसिपल साहब ने।

रामपाल भाग कर दोनों बाथरूम साफ करने लगा था। साफ करते-करते लगभग हाफटाइम अर्थात लंच हो गया था। हाफटाइम से पहले की क्लास छूट गई थी। फिर तो यह हुआ कि ये रोज का सिलसिला बन गया था। उसने कहा भी था, 'साहब रोज-रोज शौचालय साफ करेंगे तो हमारी क्लासेस निकल जाया करेंगी और हमारी पढ़ाई छूट जाएगी। फेल हो जाऊंगा मैं।'

'फेल हो जाऊंगा, का क्या मतलब। पढ़कर भी तुम क्या उखाड़ लोगे। साले चमरा, तुम्हें खीचने तो जानवर ही हैं। ज्यादा हुआ तो जूते गांठोगे। इससे ज्यादा तो कुछ नहीं। इसलिए जो प्रिंसिपल साहब ने काम दिया है, उसे कर। एक थप्पड़ पड़ा तो टट्टी-पेशाब एक साथ आएंगी।' डांटा था पीटीआई एस.पी. सिंह ने। डर गया था रामपाल। कुछ नहीं बोला था। आदत और व्यवहार से विभ्रम था सो साथी लड़के जो कक्षाएं छूट जाती थीं, उनका मैटर उसे दिखा देते थे। अपनी लिखी हुई कापियां दे देते थे। उन्हें देखकर लिख लेता था रामपाल। कुछ अध्यापक भी अच्छे थे। वे उसे प्यार करते थे तो कुछ उससे सहानुभूति भी रखते थे।

एक-एक बात मानो कोई याद दिला रहा हो, कलक्टर साहब को.....तब माँ और पिता दोनों मेहनत करते थे। पिता भट्टा झौकते थे। ईंटें पकाई जाती थीं। लाल-लाल अंगारों-सी आग के सामने जीवन से लड़ते पिता मानो लोहा बन गए थे। माँ, माँ तो ईंटें पाथती थी। तब रामनाथ थोड़ा-सा समझदार हो गया था सो माँ के साथ ही मिट्टी के लौंदे उठा-उठाकर माँ को दिया करता था। माँ मना करती थी लेकिन मन में खुश भी होती थी।

माँ और पिता दोनों भट्टे से सटी छोटी-सी बस्ती में रहते थे, वहीं उनकी फूस की झोपड़ी थी।

कैसी-कैसी यादें आने लगी थीं कलक्टर साहब को.....पिता कहा करते थे, रामपाल बेटा, बड़ा होकर बहुत बड़ा आदमी बनना। खूब पढ़ना। खूब मेहनत करना। माँ अपने आंचल में छुपा लिया करती और दुलारती, 'मेरा रामपाल डिप्टी- कलक्टर बनेगा। देख लेना रामपाल के बाबू।'

पिता, माँ को एकटक देखते रहते। वे माँ के सपनों में ही अपने सपने मिला देते।

छोटी-छोटी झोपड़ियों में ही एक आदमी आया करता था। सभी उसे साहब कहते थे। वह आदमी झोपड़ियों के बच्चों को पढ़ाया करता था। रामपाल भी उसके पास पढ़ने लगा था।

तभी एक दिन खबर मिली कि रामपाल के पिता जिस भट्टे में आग झौंका करते थे, उनका पैर फिसल गया और वे उसकी आग में समा गए। हड्डियां भी नहीं मिलीं। माँ ने सुना तो दहाड़ मारकर रोना चाहिए था, रोई नहीं थी। आंसू आंखों में ही सूख गए थे। झोपड़ियों की माँ की साथिनों ने बड़ी कोशिश की कि माँ रोए, मगर माँ नहीं रोई थी।

माँ ने शायद आंसुओं को अपनी धोती के पल्लू में बांध लिया था। बस, माँ पत्थर की बन गई थी। काम करना छोड़ दिया। माँ, मामा के घर आ गई थी। मामा रतनपुर में रहते थे। रतनपुर और बंसतपुर पास-पास ही हैं। मामा ने माँ की खूब सहायता की।

अब अपने मामा के घर में रहने लगा था रामपाल और उनकी माँ।

मामा के पूरे घर का काम करती थी माँ ताकि मामी कोई समस्या न खड़ी करे और फिर खेतों से गोबर बीन लाती थी। लकड़ियाँ बीनती और वे सभी कार्य जो कोई नहीं करे, माँ किया करती थी। देखते-देखते रामपाल बड़ा होने लगा। माँ की मेहनत और सिर ऊपर परिश्रम से रामपाल का दाखिला स्कूल में करवा दिया था उसके मामा ने। ठीक पांच साल की मेहनत के पश्चात रामपाल को बंसतपुर के संभवामि माध्यामिक विद्यालय में दाखिला मिल गया था। रामपाल मेधावी था। बहुत मेहनती। विद्यालय के अधिकांश अध्यापक उसे स्नेह देते, प्यार देते, अपनत्व देते लेकिन प्रिंसिपल रामरतन पाठक उसकी मेधा और बुद्धिमानी से चिढ़ता था। उसका साथ पीटीआई एस.पी. सिंह दिया करता था।

स्कूल के स्टाफरूम का टायलेट और प्रिंसिपल के कमरे से अटैच टॉयलेट साफ करते-करते और मेहनत से पढ़ते-पढ़ते रामपाल ने विद्यालय की पढ़ाई पूरी कर ली थी। माँ और मामा ने उसके लिए अपना सर्वस्व लगा दिया। इण्टरमीडिएट से बी.ए. तक का सफर बहुत कठिन था, लेकिन रामपाल ने सरलता से पूरा कर लिया। अब वह अपनी माँ और मामा पर अश्रित नहीं था।

वह बच्चों को ट्यूशन पढ़ाया करता। छुट्टी के दिनों में मेहनत-मजदूरी कर लेता था। दिन में पढ़ता और रात में शादी-ब्याह-बारात में हंडा सिर पर रखता। टॉप तो वह कभी नहीं कर पाया लेकिन अच्छे नम्बरों से हर बार पास हुआ। मेंहतन, मजदूरी, हिम्मत, साहस, माँ और मामा का आाशीष लेकर शहर आ गया था। पढ़ता-पढ़ाता और परीक्षाओं की तैयारी करता था रामपाल और एक दिन ऐसा भी आया जब वह सिविल सर्विस की परीक्षा में पहली ही बार में प्री और मेंन पास कर इटरव्यू फेस कर चुन लिया गया था।

माँ को बताया तो माँ ने हाथ आसमान की ओर फैला दिए थे। जो धोती पहने थी, उसी का दामन फैलाकर दोनों हाथ जोड़ दिए थे और सिर्फ इतना ही बोली थी, रामपाल के बाबू, तुम्हारा बेटा बड़ा अफसर बन गया। तुम्हारे न रहने पर मैंने उसे पिता और माँ का प्यार दिया। तुम खुश तो हो। फिर बिलख-बिलखकर रोने लगी थी।

बेटे ने माँ को चुप किया था। माँ की आंखों में आए आंसुओं को अपनी अंजुली में भर लिया था, 'अब सब दुख दूर हो गए- माँ। अब आपको माँ.....अब आपको।' और ये क्या थोड़ी देर पहले माँ को चुप करवाने

वाला रामपाल स्वंय रोने लगा था। माँ का दुख था.....पिता का दुख था.....या प्रिंसिपल रामरतन पाठक द्वारा अपमानित किए जाने का दुख, कौन जाने।

निश्चित समय पर ट्रेनिंग पूरी की थी। पहली ही पोस्टिंग गोरखपुर में मिली। फिर...फिर...और अब यहां...जहां प्रिंसिपल रामरतन पाठक आज फिर साए की तरह सामने आकर खड़ा हो गया था कि...कि...दांत पीस लिए थे... पाठक, तुझे तो नहीं छोड़ूँगा। लौट आए थे जीवन का हलाहल पीकर, कलक्टर साहब।

अपने सीनियर पीपीएस को आवाज दी थी। 'एसपी साहब को कॉल करो। आधे घण्टे में मुझसे मिलें। और हां, डीआईओएस को फोन करो, अभी के अभी मेरे पास हाजिर हों और सुनो, जिला के सीएमओ को कहो कि बंसतपुर के सरकारी हस्पताल पहुंचें।' सीनियर पीपीएस ने कलक्टर साहब का पहली बार इतना गुस्सा देखा था।

कुछ ही देर में एसपी साहब और जिला विद्यालय निरीक्षक कलक्टर साहब के कमरे में थे।

'आदेश सर।' एसपी साहब बोले थे।

'बसंतपुर के संभवामि माध्यमिक विद्यालय चलना है, अभी।' आदेश था कलक्टर साहब का।

जिला विद्यालय निरीक्षक को बिना कहे ही समझ आ गया था कि कहां चलना है।

एक घण्टे की ड्राइव के पश्चात, सभी पहले बसंतपुर सरकारी हस्पताल में गए थे।

जिला चिकित्सा अधिकारी पहले से वहां मौजूद थे। जिन लोगों ने कलक्टर साहब से प्रिंसिपल रामरतन पाठक की शिकायत की थी, वे भी पहुंच गए थे। स्थानीय मीडिया के लोग भी आ गए थे।

एसडीएम देवेन्द्र मिश्रा और तहसीदार पहले से ही मौजूद थे।

कुछ लोगों ने कलक्टर साहब जिंदाबाद के नारे लगाए थे जिन्हें कलक्टर साहब ने हाथ के इशारे से रोक दिया था, 'नो पालिटिक्स प्लीज।'

'कैसी स्थिति है बच्चे की' कलक्टर साहब ने जिला चिकित्सा अधिकारी से पूछा था। वे कुछ बोलते इसके पहले ही, बच्चे का इलाज कर रहा डॉक्टर बोला था, 'सर, अब चिंता की कोई बात नहीं। दो-चार दिन में बच्चा ठीक हो जाएगा।'

कलक्टर साहब का मन नहीं माना था तो स्वंय बच्चे के सिर पर हाथ रखकर कुछ पूछना चाह रहे थे कि बच्चा स्वयं ही बोला था, 'साहब, बहुत मारा है मुझे प्रिंसिपल साहब और पीटीआई साहब ने।' फिर औंधा होकर लेट गया था। पीठ खोल दी थी।

अरहर की गीली लकड़ी से बच्चे को मारा गया था। जहां-जहां मारा था, वहां से खाल उधड़ गई थी मानो किसी ने दुश्मनी निकाली हो। एक दिन की नहीं, सदियों की।

कलक्टर साहब बहुत धैर्यवान व्यक्ति थे फिर भी न जाने उन्हें ऐसा लग रहा था कि अस्पताल के बेड पर बच्चा नहीं लेटा है, वे स्वंय लेटे हैं और उनकी पीठ पर निशान हैं। गहरे जख्म हैं। संभल नहीं पाए थे। आंखों में कहीं कुछ होने लगा था। रूमाल निकालकर आंखों पर रख लिया था कि बच्चा फिर बोला था, 'सर, प्रिंसिपल

साहब कह रहे थे,.....पढ़कर क्या उखाड़ लोगे.....साले चमरा, तुम्हें खीचने तो जानवर ही हैं.....जूते गाठोगे। सर.....सर....मैं पढ़ना चाहता हूं.....सर मैं....पढ़ना.....सर मैं पुलिस बनना.....।' इसके पहले कि कलक्टर साहब कुछ बोलते एसपी साहब बोले थे, 'तुम बिल्कुल ठीक हो जाओगे और एक दिन जरूर मेरी तरह बनोगे।'

डाक्टरों, जिला चिकित्सा अधिकारी को आवश्यक निर्देश देकर, कलक्टर साहब के साथ-साथ, सभी लोग संभवामि माध्यमिक विद्यालय पहुंच गए थे।

विद्यालय में सभी अध्यापक, प्रिंसिपल रामरतन पाठक और पीटीआई एस. पी. सिंह माजूद थे।

कलक्टर साहब ने डीआईओएस की ओर देखा था, 'तो आपके, इस तरह के प्रिंसिपल हैं।'

डीआईओएस की हिम्मत थी जो हां या ना कर पाते।

फिर कलक्टर साहब ने प्रिंसिपल रामरतन पाठक से पूछा था, 'आखिर हुआ क्या था।'

प्रिंसिपल साहब क्या बोलते उनके तो प्राण सूख रहे थे। कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि इतना बड़ा लोचा हो जाएगा। जब से प्रिंसिपल बने हैं, उनके कमरे के साथ अटैच टायलेट को तो हमेशा से चमारों के बच्चे ही साफ करते आए हैं, कभी किसी की हिम्मत नहीं हुई। आज क्या हो गया। हे बांकेबिहारी, मदद करो।

तभी कलक्टर साहब उठे और प्रिंसिपल साहब के कमरे से अटैच टॉयलेट में चले गए थे और तुरंत लौट भी आए थे। 'ओह माय गॉड, वेरी-वेरी डर्टी टॉयलेट' कहकर कुर्सी पर बैठना ही चाह रहे थे कि प्रिंसिपल साहब बोले थे, 'अभी दो मिनट में क्लीन कर देता हूं। सर, प्लीज।' और टॉयलेट की ओर चल दिए थे।

कलक्टर साहब ने रोक दिया था, 'नहीं, आप नहीं।'

दरअसल प्रिंसिपल के कमरे के साथ अटैच टॉयलेट गंदा था ही नहीं। ये तो कलक्टर साहब थे जो न जाने क्या जानना चाह रहे थे, सो टायलेट जाने का बहाना किया था।

'छोड़िए प्रिंसिपल साहब, आप बताइए फाइनली हुआ क्या था।' कलक्टर साहब बोले थे।

प्रिंसिपल रामरतन पाठक बिल्कुल चुप। तभी पीटीआई एसपी सिंह ने हिम्मत की थी, 'सर, बच्चे ने अनुशासनहीनता की थी।'

'और आप क्या कर रहे हैं। प्रश्न, मैंने प्रिंसिपल साहब से किया है। उत्तर आप दे रहे हैं, ये क्या है।' इस बार कलक्टर साहब का गुस्सा देखने लायक था।

पीटीआई, एसपी सिंह नौकरी सिर्फ शौक के लिए करता था। उसके पास सैकड़ों बीघा जमीन थी। बाप-दादा की सम्पदा थी। गुरूर था उसे, उस पर। स्टाफ के अध्यापकों को जरूरत के समय दोगुने ब्याज पर पैसा देता था लेकिन जब कलक्टर साहब ने डांटा तो लगा था मानो.....। फिर पैंट के पीछे की ओर हाथ लगाकर देखा था। सब ठीक था।

कलक्टर साहब आगे बोले थे, 'प्रिंसिपल साहब, याद करो, आज से लगभग पच्चीस-छब्बीस साल पहले भी आपने ऐसा ही किया था एक छात्र के साथ। याद आ रहा है.....शायद आ रहा है.....और अब भी वैसा

ही किया। मुझे तो लगता है आप तब से लेकर आज तक न जाने कितने गरीब, मासूम बच्चों का जीवन खराब कर चुके हैं.....आपने बच्चों में हीनभावना भर दी। दूसरे बच्चों के सामने उन्हें नीचा दिखाया ताकि जीवन में वे सिर उठाकर न चल सकें.....आपने बच्चों के साथ साजिश की है। आपने, अपने कर्तव्य का सही से निर्वहन नहीं किया।' अब कलक्टर साहब पूरी तरह से बियूरोक्रेट थे, फिर डीआईओएस की ओर मुंह करके बोले थे, 'देख लीजिए क्या करना है इनका। और इनका ही क्यों पीटीआई सर का भी।'

डीआईओएस सिर्फ हां में सिर हिला रहे थे। कलक्टर साहब फिर एसपी साहब से बोले थे, 'एसपी साहब, प्रिंसिपल साहब ने बच्चे को मारा, उसे शिक्षा ग्रहण करने में बाधा पहुंचायी, जाति सूचक शब्दों से अपमानित किया। देख लीजिए, जो भी धाराएं लगती हों.....आप तो विशेषज्ञ हैं.....मुझे तो नहीं पता ये सब। देख लें, इन्होंने तो बच्चे को जान से ही मार दिया होता.....जान से मार देने या फिर मारने की कोशिश करने में कौन सी धाराएं लगती हैं.....देख लीजिएगा।'

इधर, प्रिंसिपल साहब, जो पैंट पहने थे, वह ढीला-ढाला था। प्रिंसिपल साहब को प्रोस्टेट का प्रॉब्लम था। पेशाब धीरे-धीरे आता था। अब पेशाब धीरे-धीरे बह रहा था। कलक्टर साहब ने देख लिया था। 'अच्छा एसपी साहब चलते हैं। किसी तरह की कोताही न हो।' कलक्टर साहब चलने लगे थे कि पीटीआई एसपी सिंह की ओर निगाह चली गई थी, 'एसपी साहब, पीटीआई सर का विशेष ध्यान रखिएगा।' 'यस सर।' कहकर एस पी साहब ने सैल्यूट बजाया था। कमरे में, पेशाब की दुर्गंध तेजी से चारों ओर फैल रही थी।

शिवम यादव अंतापुरिया
बाबा साहेब भीम राव अम्बेडकर केंद्रीय विश्वविद्यालय लखनऊ (उ. प्र.)
संपर्क सूत्र : 9454434161,9519094054

विष्णुपद की प्रतीक्षा

(प्रथम खण्ड)

कनकधारा का जन्म वसंत पंचमी के दिन हुआ था, जब सरस्वती का वास धरा पर होता है। बचपन से ही उसमें कुछ दैवी स्पर्श था। ग्रामवासी उसे 'वाग्देवी की कन्या' कहते थे परंतु निर्धनता की मिट्टी ने उसके सपनों को मुरझा दिया था। दूसरी ओर, वाग्देव एक अनाथ किशोर के रूप में गाँव में आया था। बाल्यकाल में उसका शरीर दुर्बल था, किंतु चित्त असाधारण। वृद्ध वशिष्ठ ने उसे अपनी कुटिया में स्थान दिया और उन्हें कुछ समय बाद आभास हुआ कि यह कोई साधारण बालक नहीं, बल्कि यह देवयुगीन ज्ञान के साथ उत्पन्न हुआ है। वाग्देव और कनकधारा दोनों ही एक दूसरे के प्रति निश्छल स्नेह रखते थे, वह स्नेह जो युगों तक पीयूषवत बहता रहे। कनकधारा और वाग्देव के मध्य क्या था इसकी भनक किसी को नहीं थी लेकिन कुछ ही समय में लोगों के मन में आशंका जन्म लेनी लगी और उस आशंका को शंका में बदलते समय न लगा क्योंकि कहीं पर अगर आग लग जाए वहां पर भला धुँआ न उठे ऐसा संभव ही नहीं होता है। धीरे-धीरे समय बीतता गया जनजीवन प्रकृति के अनुसार ढलता गया। समय ने ऐसा पलटा मारा कि ग्राम में अकाल पड़ गया। बारह वर्षों की घोर वर्षाविहीनता ने धरा को बंजर बना दिया था। वृद्ध वशिष्ठ ने ध्यानस्थ होकर कहा- यह भूमि केवल जल से नहीं, संस्कार से शुद्ध होगी। जब तक ग्राम में कोई व्यक्ति अपनी प्रियतम वस्तु का त्याग नहीं करेगा, तब तक देववृष्टि नहीं होगी। ग्रामवासी आश्चर्यचकित थे कि अब कौन करेगा ये त्याग? तभी वाग्देव ने कहा- मैं कनकधारा को छोड़ दूँगा, यदि उससे ग्राम की रक्षा हो सके। यह कहकर वह नंदनवन की ओर प्रस्थान कर गया, जहाँ देवताओं का प्राचीन मार्ग था। कनकधारा हतप्रभ थी। उसका मौन, उसकी वेदना बन गया। उसका प्रेम बलिदान बन चुका था।

नंदनवन में वाग्देव ने वरुण, अग्नि और वायुदेव की आराधना की। वे प्रकट हुए। वरुण ने कहा- तव प्रेम निष्कलंक है, परंतु त्याग से भी अधिक आवश्यक है साहस। जाओ, दक्षिण दिशा में स्थित कालीगह्वार में प्रवेश करो, जहाँ देवी काली की मूर्ति हज़ार वर्षों से मौन है। उसे जगा सको, तो ग्राम पुनर्जीवित होगा। कालीगह्वार की यात्रा करते समय वाग्देव पर्वतों, अरण्यों और मृत घाटियों को पार करता हुआ कालीगह्वार पहुँचा। जहाँ पर प्रकृति ऐसे ठहरी हुई थी मानों जैसे कोई तपस्वी वर्षों से ध्यान साधना में लीन हो- पक्षी मौन, वायुपथ बंद और भूमि शुष्क थी। वह सात दिन तक देवी की स्तुति करता रहा। आठवें दिन देवी ने कहा- "हे देवपुत्र! यदि तू यह वर चाहता है, तो तुझे अपने हृदय की अंतिम अभिलाषा का परित्याग करना होगा।" वाग्देव बोला- "यदि कनकधारा को देखना भी मेरी अभिलाषा है, तो मैं उसका त्याग करता हूँ। परंतु मेरा प्रेम अर्पण है, वह बलिदान नहीं माँगता।" देवी प्रसन्न हुई- "विष्णुपद की प्रतीक्षा समाप्त होती है, वर्षा अब इस ग्राम में होगी।" उसी दिन वृन्दावनपुर में वर्षा की प्रथम बूँदें गिरीं। कनकधारा ग्राम की सबसे ऊँची पहाड़ी पर चढ़कर वर्षा को देख रही थी और अचानक सामने वाग्देव खड़ा था- थका हुआ, परन्तु उसके चहरे पर एक अधखिली कली की भांति मुस्कान तैर रही थी। उसके ललाट पर तेजोमंडल सूर्य की भांति धमक रहा था। उसके सिर के पीछे एक देवरूपी आभामंडल दिखाई दे रहा था जिससे ऐसा प्रतीत होता था कि मानों कोई देवता स्वयं इस धरा पर उतर आया हो। ऐसा अद्भुत और अविश्वसनीय,अविस्मर्णीय दृश्य देखकर...कनकधारा की आँखें छलक पड़ीं। वाग्देव बोला- "प्रेम केवल संयोग

नहीं, त्याग और धैर्य की पूर्णाहुति है। तुमने प्रतीक्षा की, मैंने प्रयास किया- इसलिए यह ग्राम बच गया।" वृद्ध वशिष्ठ दूर से मुस्कुरा रहे थे...

(द्वितीय खण्ड)

वर्षा के बाद वृन्दावनपुर की भूमि अब देवभूमि-सी लगने लगी थी- जैसे हिमालय की तलहटी में बसी कोई तपोभूमि, जहाँ हर ओर हरियाली की चादर बिछी हो, पत्तियों पर मोती-से ओस बिखरे हों और वृक्षों की शाखाएँ आकाश से संवाद कर रही हों। जैसे किसी पुरातन ऋषि का आश्रम, जहाँ प्रकृति स्वयं साधना में लीन हो जाती हो। उस भूमि पर पग रखते ही शांति का अनुभव होता, जैसे आत्मा किसी तपोवन में पहुंच गई हो। किंतु इस बाह्य सौंदर्य के पीछे एक अदृश्य संकट पल रहा था। वृन्दावनपुर की धरा अब बाहर से तो स्वर्ग लगती थी, किंतु जनमानस की धरती पर शंका की कंटीली झाड़ियाँ उग आई थीं। ग्राम में कुछ लोगों ने वाग्देव को अविश्वास से देखा। वह देवों की बात करता है? क्या यह कोई छलावा नहीं? वर्षा तो शायद वैसे ही हो जाती! कनकधारा से उसका मेल अब ग्राम की मर्यादा के विरुद्ध है! इस प्रकार की कानाफूसी बढ़ने लगी। प्रेम जितना उच्च होता है, समाज उतना ही उसे शंका की दृष्टि से देखता है। कनकधारा का मन डगमगाया नहीं, पर उसकी आँखें दिन-ब-दिन अधिक मौन हो गईं।

वृद्ध वशिष्ठ ने एक रात्रि कहा- "हे कनकधारा! केवल प्रेम करने से समाज को नहीं जीता जा सकता। समाज को समझने, उसकी जटिलताओं को आत्मसात करने और उसकी रूढ़ियों का धैर्यपूर्वक सामना करने की भी शक्ति चाहिए। प्रेम आरंभ है, पर परिवर्तन के लिए सहनशीलता और विवेक की आवश्यकता होती है।" सप्तपुरुषों की सभा के समक्ष किसी भी बात को रखना ग्राम की प्राचीन परंपरा थी- संकट या विवाद की स्थिति में "सप्तपुरुषों" की सभा बैठती थी, जो आंशिक रूप से पंचायत, आंशिक रूप से धार्मिक समिति थी। उस सभा में वाग्देव को उपस्थित होना पड़ा। मुखिया पर्जन्यदत्त ने पूछा- हे वाग्देव! तुम कहते हो तुम यक्षवंशीय हो, देवों से मिले, देवी काली की मूर्ति से संवाद किया... क्या इसका कोई प्रमाण है? वाग्देव मौन रहा। "क्योंकि आस्था की पुष्टि केवल तर्क के आधार पर नहीं, बल्कि उन निजी, आत्मिक और गूढ़ आत्मानुभूति से होती है, जो व्यक्ति की अंतरात्मा को स्पर्श करते हैं।" तभी सभा में वृद्ध वशिष्ठ आए। उन्होंने कहा- प्रमाण...? क्या तुमने नहीं देखा सूखी धरती पर पहली बार हरियाली? क्या तुमने नहीं देखा कि जिसे तुम निर्धन कन्या कहते थे, वह पूरे ग्राम के लिए प्रतीक्षा करती रही?" फिर उन्होंने कनकधारा को बुलाया। वह शांत मुद्रा में आई और कहा- "मैं यह नहीं जानती कि वाग्देव यक्ष हैं या मानव। मैं यह भी नहीं कहती कि मैं इस प्रेम के योग्य हूँ। परंतु यदि यह पाप है कि मैंने किसी के लिए प्रतीक्षा की, तो मैं शिरोधार्य करती हूँ यह अपराध।" सभा मौन हो गई। पर्जन्यदत्त बोला- धर्मशास्त्र कहता है कि प्रेम में त्याग हो और समाज हित तभी वह स्वीकृत है। तुम दोनों ने ग्राम को जीवन दिया है। हम तुम्हारे इस संबंध को यज्ञ-संविधा कहते हैं- जिसमें प्रेम, तप और जनहित की त्रयी पूर्ण हो। सभा ने अनुमोदन किया। परंतु कथा यहीं थमती नहीं। प्रकृति जब किसी को चुनती है, तो उसकी केवल एक परीक्षा नहीं लेती। एक रात्रि वाग्देव को स्वप्न में देवी काली पुनः प्रकट हुईं। उन्होंने कहा- तव कर्त्तव्य अभी समाप्त नहीं। दक्षिण वन में एक दैत्य 'मनोग्रह' ने तपस्या कर अहंकार प्राप्त कर लिया है। वह गाँवों में विष फैला रहा है- आत्मग्लानि, ईर्ष्या, मोह और शंका का विष।

देवी ने आज्ञा दी- "तुम्हें उससे युद्ध करना होगा, परंतु अस्त्र से नहीं- प्रेम, क्षमा और ज्ञान से।" वाग्देव देवी की आज्ञा को शिरोधार्य कर देवी का स्मरण करते हुए चल पड़ा। दक्षिण वन में 'मनोग्रह'- एक अत्यंत विकराल

और कराल रूप धारण किए बैठा था। उसका पहला वाक्य था- "मैं तुम्हारे प्रेम का उपहास हूँ। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा का अपमान हूँ। मैं वह शंका हूँ, जो हर हृदय में बसा हूँ!" वाग्देव ने उत्तर दिया- "मैं प्रेम हूँ, जो उपहास से नहीं डरता। मैं प्रतीक्षा हूँ, जो अपमान में भी आशा खोजता है। मैं विश्वास हूँ, जो शंका में भी सत्य का बीज बोता है।" मनोग्रह ने अट्टहास किया और एक मानसिक युद्ध प्रारंभ हुआ- स्मृतियों की बाढ़, असफलताओं की गूँज, अकेलेपन का अरण्य... पर वाग्देव की आत्मा में कनकधारा की मुस्कान एक दीपशिखा बनी रही। अंततः जब वाग्देव ने मनोग्रह के मन में उसकी जन्मपूर्व पीड़ा देखी, तो उसने उसे आलिंगन दे दिया। मनोग्रह काँप उठा। उसने कहा- "जिस दिन कोई मुझे बिना शत्रु समझे अपनाएगा, मैं नष्ट हो जाऊँगा।" और वह स्वयं अपने भीतर जलकर भस्म हो गया। वापसी पर वाग्देव ने देखा- ग्राम में एक नया दीपालय बन चुका था, जहाँ कनकधारा प्रतिदिन पूजा करती थी। "वृन्दावनपुर अब केवल एक साधारण ग्राम नहीं रह गया था; समय के साथ उसकी पहचान, उसकी आत्मा और उसका स्वरूप इतना दिव्य, इतना पावन हो गया था कि लोग उसे 'देवग्राम' कहने लगे थे। वहाँ की हवाओं में भक्ति की सुगंध घुली रहती थी और कण-कण में ईश्वर की उपस्थिति का आभास होता था।" कनकधारा ने वाग्देव से पूछा... "क्या अब हमें कोई परीक्षा नहीं देनी?" वाग्देव मुस्कराया और बोला- "प्रेम में परीक्षा समाप्त नहीं होती वह केवल पूर्णता की ओर यात्रा बन जाती है।

(तृतीय खण्ड)

ग्राम में अब नवजन्मों की संख्या बढ़ने लगी थी। खेतों में हरियाली लौट आई थी, परन्तु वाग्देव और कनकधारा के मनों में एक अदृश्य व्यथा पल रही थी- जैसे किसी ने पृष्ठ तो पलट दिया हो पर कथा का अंतिम वाक्य अलिखित रह गया हो। कनकधारा कभी-कभी दूर एक पीपल वृक्ष के नीचे बैठकर अदृश्य रेखाएँ खींचा करती थी और वाग्देव, जो अब ग्राम के युवाओं को वेद और नीति का पाठ पढ़ाता था, भीतर से शून्य हो चला था। वृद्ध वशिष्ठ एक दिन उनके पास आए और बोले- हे पुत्र! एक प्रश्न तुम दोनों के हृदय में अब भी अनुत्तरित है- 'क्या हमारा प्रेम केवल ग्राम के लिए था?' नहीं, वह जगत के लिए था। क्योंकि जब कोई प्रेम देवत्व के स्तर तक पहुँचे, तब वह केवल व्यक्तियों का नहीं, समष्टि का ऋण चुका रहा होता है।" वाग्देव ने मौन होकर कहा- "तो क्या यह शेष जीवन भी सेवा की अग्नि में जलता रहेगा?" वशिष्ठ बोले- "अभी मनुष्य का अंतर्मन शुद्ध नहीं हुआ। तुमने भूमि को हरियाली दी, अब मानवता को शुद्धि देनी है। इसके लिए तुम्हें एक बार फिर विष्णुपद की यात्रा पर निकलना होगा।" विष्णुपद की ओर यह वाग्देव की दूसरी यात्रा थी। विष्णुपद कोई स्थिर स्थान नहीं था, यह तो धर्म, करुणा और संयम की चलायमान भूमि थी। इस बार कनकधारा भी साथ चली। वे दोनों उत्तर दिशा की ओर निकले- जहाँ मान्यता थी कि देवताओं का पूर्वकालीन अपराध दबा पड़ा है। वृद्ध वशिष्ठ ने बताया था- "उत्तर दिशा के हिमगुहों में 'नृपश्राप' दफ़्न है- एक ऐसा शाप नहीं, जिसे देवताओं ने मनुष्यों पर डाला था, बल्कि एक ऐसा कलंक है, जिसे स्वयं मनुष्य ने अपनी संकीर्ण बुद्धि, स्वार्थ और हिंसक प्रवृत्तियों के कारण मनुष्यता पर थोप दिया था। यह वह घाव है जो न केवल अतीत की परछाइयों में छिपा है, बल्कि वर्तमान को भी रक्तरंजित करता है। देवताओं को दोष देना आसान था, परंतु सच्चाई यह है कि मनुष्य ने ही अपने भीतर की करुणा, सह-अस्तित्व और नैतिक विवेक को तिलांजलि देकर अपने ही समाज के बीच एक ऐसी गहरी खाई खोद दी, जिसमें विश्वास, प्रेम और न्याय का स्वर दबता चला गया। यही 'नृपश्राप' आज भी मानव सभ्यता को भीतर ही भीतर ग्रस रहा है- युद्धों, विषमताओं, जातिगत ऊँच-नीच, धार्मिक विद्वेष और आर्थिक अन्याय के रूप में। हिमगुहाओं में वह शाप नहीं दबा, दबा है एक आईना- जो हर युग में मानवता से यह प्रश्न करता है- क्या तुमने अपने ही दोषों को छिपाने के लिए देवताओं को दोषी ठहराना सीख लिया है?" वे दोनों चल पड़े- न गाजे-बाजे, न शोभा-यात्रा- केवल नियति

का मौन और प्रेम का निश्चय साथ था। सात रातें और छह दिन की यात्रा के पश्चात वे हिमगुहा पहुँचे, जहाँ अब केवल एक बर्फीली चुप्पी थी। वहाँ हिमरुपी शिलालेखों पर अंकित था- "यहाँ वह अपराध दबा है, जिसमें अधर्म ने एक धर्मप्रिय राजा 'सुपर्णकेतु' को अपमानित किया था। उसका शाप अब भी मानवता को पृथक-पृथक जातियों में बाँटता है।" वाग्देव और कनकधारा स्तब्ध रह गए। यह शाप जातियों के भेद से जुड़ा था। कनकधारा बोली- "यह तो वही पीड़ा रूपी खाई है जिसे स्वयं इंसान ने खोदा है, जो आज भी समाज में व्याप्त है- ऊँच-नीच, छुआछूत, वर्ण और अपमान। यही नृपश्राप आज भी जीवित है।" वे दोनों वहीं ध्यानस्थ हो गए। वाग्देव ने कहा- "मैं उस शाप को आत्मसात करता हूँ। यदि किसी युग में कोई प्रेम जाति से ऊपर उठकर हो, तो वह इस शाप को क्षीण कर देगा।"

कनकधारा ने वाग्देव का हाथ पकड़ लिया और दोनों ने उस हिमगुहा में एक वर्णविलय यज्ञ किया। जिसमें उन्होंने कहा- "हम कोई जाति नहीं, कोई कुल नहीं हम केवल मानवता की संतान हैं। जब तक समाज किसी नाम पर श्रेष्ठता को ढोता रहेगा, तब तक यह विष्णुपद अधूरा रहेगा।" यज्ञ के अंतिम क्षणों में वहाँ एक मूर्ति प्रकट हुई वह कोई देवी नहीं थी, कोई देवता नहीं था, बल्कि वह एक रोता हुआ मनुष्य था। उस रोते हुए मनुष्य ने अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए कहा- मैं वह राजा सुपर्णकेतु हूँ... जो धर्म का दंड झेल रहा था क्योंकि अधर्मी मनुष्यों ने मेरी धर्मप्रियता की बात अनसुनी की थी, मेरी सत्यता को दबाया गया था... आज, जब तुम दोनों ने मेरी पीड़ा को प्रेम से बांध दिया, मेरा शाप मिट गया।" तभी आकाश से दिव्य वाणी गूँजी- हे वाग्देव! तुमने प्रेम से ग्राम को जीता, साहस से दैत्य को हराया और अब करुणा से शाप को। अब तुम दोनों अमर हो नाम से नहीं, कार्य से, विचार से और प्रतीक्षा से। कहते हैं, वाग्देव और कनकधारा लौटे, पर अब वे केवल वही नहीं थे। उन्होंने ग्राम की युवा पीढ़ी को प्रेम, समता और साहस की शिक्षा दी। किसी दिन वे दो पत्थर बने- एक नदी किनारे, जहाँ कनकधारा प्रतीक्षा करती थी और एक पीपल तले, जहाँ वाग्देव ध्याय किया करता था। वृद्ध वशिष्ठ ने कहा- "इन पत्थरों को मत पूजो, इन्हें पढ़ो, समझो क्योंकि ये प्रतीक्षा की पराकाष्ठा हैं, ये प्रेम की परिपक्वता हैं, ये साहस की शुद्धि हैं।" आज विष्णुपद कोई गाँव नहीं, कोई मंदिर नहीं, बल्कि वह हर मनुष्य के भीतर छिपी संघर्षशील करुणा का प्रतीक है। जब कोई कनकधारा बिना अधिकार माँगे किसी का साथ देती है, जब कोई वाग्देव अपनी पीड़ा को समाज के कल्याण में झोंक देता है, तब विष्णुपद धरती पर अवतरित होता है- एक मौन चरणचिह्न की तरह। उसी दिन आकाश से एक श्वेत कमलपुष्प गिरा- लोगों ने कहा, विष्णुपद अब ग्राम की भूमि पर आ चुका है। कहते हैं, वाग्देव और कनकधारा ने विवाह नहीं किया- उन्होंने प्रेम को किसी बंधन में नहीं बाँधा। वे गाँव के शिक्षक बने रहे आजीवन...और जब उनका अन्तकाल आया, तो एक साथ अग्नि में प्रविष्ट हो गए- "वहाँ केवल उनका शरीर अग्नि में विलीन हुआ था, प्रेम नहीं। प्रेम तो अब भी जीवित था- अग्नि की लपटों से परे, धुएँ की लकीरों में बहता हुआ, हवाओं में घुला हुआ। शरीर राख बन गया, पर वह प्रेम- जो उन्होंने जिया, जिसे संजोया- वह आज भी धड़कनों में गूंज रहा है, यादों में महक रहा है। अग्नि ने केवल देह को छुआ, उनके प्रेम की पवित्र आभा को नहीं। वह प्रेम तो समय की सीमाओं से परे, जीवन और मृत्यु से परे, अनंत में समाया हुआ है।" 'वृन्दावनपुर' अब भी है। पर वह अब एक भूगोल नहीं- एक भाव है। जहाँ प्रेम, साहस और त्याग की गाथा सुनाई जाती है। जहाँ कनकधारा की आँखों की प्रतीक्षा और वाग्देव की आत्मा का साहस। आज भी हवा में घुला है। वहीं कहीं एक शिलालेख पर यह उकेरा गया है- "जहाँ प्रेम हो पर स्वार्थ न हो, जहाँ त्याग हो पर आग्रह न हो, वहीं देवों के चरण पड़ते हैं- वहीं उतरता है विष्णुपद...

कविता

राजेन्द्र सजल

संपर्क सूत्र : 8005642366, 8094433483
ईमेंल पता : raigarandraigar2@gmail.com

1

अँधेरी रात

सूझ नहीं रहा हाथ को हाथ
कहते हो अँधेरी रात नहीं है
सारे दीए मंदिर ले गए
हमारे कुछ भी हाथ नहीं है
हम सदियों से अभ्यस्त रहे
अँधेरे में देखे जाने के
देख पा रहे हैं उनको भी
जो रौशनी के ख्वाब दिखा कर
षड्यन्त्र रचते सत्ता पाने के
तुम गले लगाओ और पीठ सौंप दे हम
अब पहले वाली बात नहीं हैं
बोलो ! क्या हाथ में खंजर मन में कोई घात नहीं है
सूझ नहीं रहा हाथ को हाथ
कहते हो अँधेरी रात नहीं है।

हमारे सामने उनको गाली
घर पर सजी उनके स्वागत में थाली
उनकी तरफ आँख मिचका कर
हवा में चलाते दुनाली
हमारे गाल पिचके
तुम्हारे गालों पर लाली
बोलो ! छीनते रहे जो हाथों से रोटी क्या तुम्हारा हाथ नहीं हैं?
सूझ नहीं रहा हाथ को हाथ
कहते हो अँधेरी रात नहीं है

फूंक रहे हो तुम भी तो सुबह-शाम शंख
गाल फुला... भींच-भींच कर
जा रहे हो कंधे पर टांग कर छड़ी-लोटे
भांग चिलम खींच-खींच कर
बोलो ! तुम्हारा यह कृत्य क्या अपराध नहीं है?
सूझ नहीं रहा हाथ को हाथ
कहते हो अँधेरी रात नहीं है

जिन्होंने हमको गुलाम बनाया
सदियों-सदियों तक कोल्हू में घुमाया
उनके बनाए देवों के प्रति आस्था उलीच-उलीच कर
तर्क शक्ति का गला घोंट कर
अंधभक्ति में डूबे आँखे मींच-मींच कर
बोलो ! बोलो क्या ये हमारे फिक्र के हालात नहीं हैं?
सूझ नहीं रहा हाथ को हाथ
कहते हो अँधेरी रात नहीं है।

भूल गए उनको जो बोले हिए तराजू तौल
मुख जन्य कवियों की कविताई याद रही
है जिनमें बड़ा ही झोल
सत्ता शिखर पर बैठ कर बोले जो बोल-कुबोल
कौवों को तुम नूत रहे तुम्हारे पुरखे स्वर्गवासी हुए
तुम गंगा नहाए पाप धो कर उजले और सुभाषी हुए
एक हाथ में बाबा साहेब दूजे में देव अविनाशी हुए
तुम्हारे दोनों हाथों में लड्डू और इधर बासी भात नहीं है।
बोलो ! बोलो क्या यह आत्मघाती विश्वासघात नहीं है?
सूझ नहीं रहा हाथ को हाथ

कहते हो अँधेरी रात नहीं है।

सुनो दलालों ! सुनो दोगलों ! सुनो पाखंडियों !
समता-शांति हेतु संघर्ष हम करते रहेंगे
रिक्त न होगा प्रेम प्याला नित्य हम भरते रहेंगे
तुम सत्ता के तलवे चाहे जीतना चाटो
शोषण से पोषित धर्म-संस्कृति का ज्ञान चाहे जितना बाटों
टपक रही है लोकतंत्र की छत
यह कोई ऐसी-वैसी बरसात नहीं है
बोलो ! बोलो ! होता नहीं जिसका प्रभात ऐसी कोई रात नहीं है?
सूझ नहीं रहा हाथ को हाथ
कहते हो अँधेरी रात नहीं है।
सारे दीये मंदिर ले गए
हमारे कुछ भी हाथ नहीं है।
******

2

यहीं ठहर जाना है

—----------

गाँव शहर चले गए बस्ती को यहीं ठहर जाना है
घर चले जायेंगे मकानों को यहीं ठहर जाना है

हाथ छुड़ाए तो तेरी मर्ज़ी लेकिन इतना बता दे
मैं कहीं चला जाऊं या फिर यहीं ठहर जाना है।

तुझे देखने भर से दिन अच्छा गुजर जाता है
अगर साथ चले तो वक़्त यहीं ठहर जाना है

तानाशाह का तो केवल तख़्त है चला जायेगा
हमारा तो मुल्क है हमें तो यहीं ठहर जाना है

एक तो जात का खटका दूजा धर्म का सजल
लड़-झगड़ कर क्या हम को यहीं ठहर जाना है

******

3

यह अलग बात है

—----------

मेरे हिस्से में ज़मीन नहीं है
फिर भी मैं
प्रेम करता हूँ
सम्पूर्ण धरती से
मेरी ज़मीन कौन खा गया?
यह अलग बात है।

मेरे हिस्से में एक भी रूंख नहीं हैं
फिर भी मैं
प्रेम करता हूँ
हर एक बीज ,पौधे-दरख़्त से
मेरा पेड़ कौन खा गया?
यह अलग बात है।

मेरे हिस्से में आसमान नहीं है
फिर भी मैं
प्रेम करता हूँ
सूरज-चाँद-सितारों से
पंछियों-पतंगों से
मेरा आकाश कौन खा गया?
यह अलग बात है।

मेरे हिस्से में बारिश नहीं
फिर भी मैं प्रेम करता हूँ
बादलों से इंद्रधनुष से
मेरी घटाएँ कौन खा गया?
यह अलग बात है।

ठीक इसी तरह
मैं तुमसे प्रेम करता हूँ
जानता हूँ

तुम मेरे हिस्से में नहीं हो
यह अलग बात है।
***

4

मैंने देखा है

मैंने देखा है पीपल के पीले पत्तों को
हवा के साथ झड़ते देखा है
देखा है मैंने दुःखों को
अपनों संग खरते देखा है
मैंने लोगों को देखा है कंधों पर जाते
अपनों के ही कंधों पर जाते देखा है
हाँ, ऐसे भी मरते देखा है
मैंने देखे दरख़्त ऊभ-चूभ होते
डूब गए जो नदी-नाले में।

हाँ, मैंने वहाँ भी फूलते-फलते देखा है
लहरों पर जो तैर रहे थे
मैंने देखा उनको भी
हाँ, उनको जलते देखा है।

मैंने देखे रोते-रोते नयन हँसते
हँसते भी देखे रोते-रोते
सीने से लगे दो जन
किंतु चार यार देखें हैं
हाँ, मैंने ऐसे भी छलते देखा है।

देखे हैं लाव-लश्कर और हीरों के हार
मैंने देखे हैं तख़्त ओ ताज रक्षक भाले और तलवार
देखे तोप-बंदूक-बारूद नर-नारी ठोकते खम
मैंने देखे मिसाइल और एटम बम
देखे हैं बलशाली-महाशक्तिशाली भूपों को
हाँ, मैंने कलम से डरते देखा है
हाँ, मैंने देखा है।

टूटे-फूटे बर्तन देखे जलती बस्ती देखी
देखे मैंने उजड़े शहर
शेष अवशेषों के बीच
फूटते अंकुरों में किलकारी देखी
लिपटी बेलों में हास-परिहास
हवाओं में घुलती सिसकियां देखी
चटकती कलियों में मधु महकते देखा है।

अरे भानगढ़ !
तेरे उखड़े प्रस्तरों से रिसती वेदना का
एक घूंट और पीने खातिर
कवि मनहर को मचलते देखा है
धन्य हुई धरा जहाँ भग्न हृदय में मैंने
हाँ, सपनों को पलते देखा है
हाँ, मैंने देखा है।

कहते हैं घना सुंदर जग कानन
किंतु नहीं रहा विश्राम कभी
जहाँ बैठ कर निहार सकूँ
ऐसा कहीं रूंख न देखा
जहाँ बैठ शृंगार सकूँ
जो भी देखा जीवन में
हाँ, बस चलते चलते देखा है।
****

5

तुम देखोगी मुझे किसी एक दिन

एक सुहानी सुबह में
दिसम्बर के किसी रविवार के दिन
तुम सज-संवर कर भाप उठती चाय का कप लिए
जाओगी छत पर
अखबार पर झुकी हुई देह के पास
एक पल के लिए उसमें हरकत होगी
नज़र तुम्हारे चेहरे से पिसलते हुए
चाय के कप को थाम लेगी

और फिर झुक जाएगी अखबार पर
यह कहते हुए
पेट्रोल फिर महंगा हो गया
तुम्हारे मन में सिमट आएगा दूर तक फैला घना कोहरा
तब तुम्हारे कानों में धीरे धीरे उभरने लगेगी
फटफटिया ध्वनि
जो तुम्हारी गली में लगा रही होगी
सातवाँ चक्कर
सिर्फ़ और सिर्फ़ तुम्हारी एक झलक देखने को
तब
तुम्हारी आँखों से टपकने से पहले
तुम काजल के एक धुंधले सांवले से रंग में रंगे आँसू को
अपनी तर्जनी के पौर पर धरे
देखती रहोगी
धूप-हवा में घुल कर औझल होते हुए
तुम देखोगी मुझे
किसी एक दिन

तुम देखोगी मुझे
एक ढलती दोपहर में
तुम्हारा अपना घर होगा
कुटुंब-रिस्तेदार
भरी पूरी दुनिया होगी
चहल पहल होगी
लोगों की आवाजाही होगी
किन्तु
सब अपने मैं डूबे
तुम आती जाती देहों में तलाशती रह जाओगी
चाय की तलब की तरह
एक कप प्यार
तब
लरजती देह को साधती हुई उठोगी
और फाटक के बाहर
अध उधड़े रैंप के एक किनारे पर बैठी
देखोगी दूर तक
इतनी दूर तक कि
झाड़ियों-बांसों-खजूरों के झुरमुटों से भरी सूनी राह के किसी मोड़ पर
एक लड़के को
पानी की मटकी सिर पर धर कर
जाती हुई एक अल्हड़ लड़की के
पलट कर देखने का इंतजार करते हुए
तभी किलक उठेगा कोई बैकल तीतर
और तुम ठहर जाओगी वहीं
इस तरह
तुम देखोगी मुझे
किसी एक दिन

तुम देखोगी मुझे
एक पीली शाम में
जब तुम बोलोगी
एक कप चाय !
और तुम्हें अनसुना कर दिया जाएगा
तुम बड़बड़ाते हुए
करती रहोगी इंतजार
तब तुम देखोगी
तुम्हारे साथ यूँ ही सिर झुका कर
गली के अंतिम मोड़ तक साथ साथ मुझे चलते हुए
तुम्हें सुनने की ललक लिए
मन हिरण किए
कि तुम बोलोगी कुछ तो
तुम गवाड़ी के झिंडे को हटा कर भीतर पांव रखने से पहले
कनखियों से देख रही होगी
तुम्हारी खामोशी को अपनी उदासी में समेट कर
मिट्टी के घर के कोने की ओट में
लौटता हुआ मुझे
जैसे सूरज सरक रहा होता है

पहाड़ी के पीछे
तुम देखोगी मुझे
किसी एक दिन

*****

प्रो. प्रदीप कुमार
स्वामी श्रद्धानंद कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

विदाई

विदाई केवल जाना नहीं होती
यह रुककर पीछे देखना भी होती है
आंखों में भरे समुद्र को
होठों की मुस्कान में छुपा लेना होता है।

एक विदाई घर से निकलती है
जब बेटी चौखट से निकलती है
माँ की हथेली काफी है
पिता की ऑख पहली बार भीतर से भेजती है।

बचपन की हंसी दीवारों पर रह जाती है
कंगन की खनक अलमारी में सो जाती है
आंचल में बांधकर सपने ले जाती है
वह और पीछे छोड़ जाती है।

एक खाली पन एक अधूरी सुबह
बेटी की विदाई में आशीर्वाद
आंसुओं से भीगी होते हैं
माँ कहती है सुखी रहना

पिता कहता है संभाल कर रहना
दोनों के बीच में दिल टूटकर चुप हो जाता है
एक और विदाई है
जहां दिल नहीं देश रोता है।

जब एक फौजी देश की मिट्टी को हाथ में लेकर
सलाम करता है
माँ तिलक करती है
पत्नी रुंधे गले से प्रणाम करती है।
प्रार्थना करती है ईश्वर से
यह विदाई जल्दी मिलन में पूरी हो
यह विदाई किसी आंगन की
नहीं सीमाओं की होती है।

यहां आंसू बहाना देश-द्रोह की निशानी होती है
फौजी की विदाई में सपनों की उम्र कम होती है
घर जल्दी लौट आना एक अनकही प्रार्थना
शब्दों में छुपी होती है।

वहां रातें जितनी लंबी होती है
तिरंगा उतना ही ऊंचा होता है
एक बेटी जाती है नया घर बसाने
एक फौजी जाता है पुराने घर बचाने

दोनों की विदाई का रंग एक सा है
एक माँ की कोक के लिए
एक भारत माँ की रक्षा के लिए
समाज में विदाई हर मोड़ पर होती है।

नौकरी में
रिश्तों में
कभी शिक्षक की अंतिम कक्षा में
कभी दोस्तों के साथ अंतिम गपशप

कभी पुराने घर की विदाई
कभी आपने बुजुर्गों की विदाई
विदाई हमें सिखाती है कदर करना
दूसरों के साथ बिताए गए संबंधों की कदर करना

क्योंकि जो चला जाता है
वह भी याद रहता है
यादों में जो विदा करता है वह बड़ा हो जाता है

विदाई दुख नहीं है परीक्षा है तुम्हारे साहस की

जहां आंसू बह जाते हैं
वहां रिश्ते अमर हो जाते हैं
विदाई बेटी की हो
फौजी की हो

मात पिता की हो
देश के जीवन के किसी भी र की विदाई हो
हर विदाई यही कहती है
जाना जरूरी है
ताकि लौटने की उम्मीद बनी रहे।।

*****

श्याम निर्मोही
बीकानेर, राजस्थान
संपर्क सूत्र : 823320933

गज़ल- 1

अपना खून निचोड़कर लिख
थोड़ा हाशिया छोड़कर लिख

ये काग़ज़ी लफ़्ज़ भटके हुए हैं
नई इबारतें जी-तोड़कर लिख

ज़हर-सा घुल रहा है नदियों में
पर्वतों के सीने फोड़कर लिख

चेतना शून्य हो चुके हैं ये परिंदे
शजरो-शाख़ झिंझोड़कर लिख

जान-बूझकर बहरे बने हुए हैं
उनके भी कान मरोड़कर लिख

जो होश-ओ-हवास खो चुके हैं
उन रिंदों को झिंझोड़कर लिख

मुखजन्य तक़द्दुस पाले हुए हैं
आईन-ए-भीम ओढ़कर लिख

निर्मोही ये सर से पा तक रंगें हैं
सच ही लिख, न जोड़कर लिख

******

गज़ल- 2

नुक्कड़ पर नाटक कहानी कहे कौन
लाठी हाथ ले कबीर वाणी कहे कौन

गाँवों की चौपालें अब सुनी हो गई हैं
ऐसे में पगडंडी की निशानी कहे कौन

आँखों पर हैं पट्टियां, ज़ुबाँ पर हैं ताले
थाली में अब दाना-पानी कहे कौन

काण कसर छोड़कर एक तराज़ू तौल
मज़हब से परे जा, तूफ़ानी कहे कौन

जाने क्यूँ सहमी-सहमी-सी है बयार
अपनी ज़बाँ से हक़ बयानी कहे कौन

जूठन देकर तिरस्कृत किया जहां से
फिर जिंदगी को जिंदगानी कहे कौन

हुस्न की बात हो तो सब ग़ज़ल कह दें
अदम-दुष्यंत-सा अब मानी कहे कौन

कबीरा खड़ा है बीच बाज़ार, निर्मोही
उसके दोहों की अब सानी कहे कौन

*****

डॉ. रंजन पाण्डेय
सहायक प्राध्यापक
स्वामी श्रद्धानन्द कॉलेज, अलीपुर, दिल्ली
ईमेंल पता: ranjandu86@gmail.com
संपर्क सूत्र: 9555850412

पंत के काव्य में नारी : आदर्श, प्रतीक और सीमाएँ

एक सैद्धांतिक एवं ऐतिहासिक विमर्श

शोध सार : प्रस्तुत शोध-पत्र छायावाद के प्रमुख कवि सुमित्रानंदन पंत के समग्र काव्य में नारी-चित्रण का त्रिस्तरीय विश्लेषण करता है आदर्श, प्रतीक और सीमाओं के परिप्रेक्ष्य में। शोध का केंद्रीय तर्क यह है कि पंत की नारी-दृष्टि न तो पूर्णतः महिमामंडन है, न पूर्णतः पितृसत्तात्मक आरोपण। वह इन दोनों के मध्य एक जटिल, विकासशील और अंतर्विरोधी काव्य-संरचना है जिसे केवल ऐतिहासिक, दार्शनिक और स्त्री-विमर्शीय दृष्टि के समन्वय से समझा जा सकता है। शोध में सर्वप्रथम हिंदी काव्य-परंपरा में नारी की बदलती छवि का आदिकाल से छायावाद तक संक्षिप्त ऐतिहासिक अनुशीलन किया गया है। यह ऐतिहासिक अनुशीलन यह स्थापित करता है कि छायावाद और विशेषतः पंत का नारी-विमर्श शताब्दियों की दमित स्त्री-चेतना के प्रतिक्रियास्वरूप उभरा। तत्पश्चात पंत के काव्य-विकास में नारी के विभिन्न स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। यह दिखाया गया है कि पंत ने 'देवी ! माँ ! सहचरी ! प्राण !' के चतुर्मुखी संबोधन से नारी को एक नई काव्यात्मक गरिमा दी, रति और लज्जा के समन्वय से उसकी समग्र मानवीयता को स्वीकार किया और नारी-प्रकृति के तादात्म्य के माध्यम से उसे सृजन-शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया। यही उनके काव्य का आदर्श और प्रतीक-विधान है। किंतु शोध यह भी स्थापित करता है कि पंत की नारी प्रायः एक कल्पित काव्य-प्रतिमा है वह पुरुष-कवि की सौंदर्य-चेतना से निर्मित है और इसीलिए वह उस ठोस, संघर्षशील, ऐतिहासिक स्त्री के यथार्थ से प्रायः विच्छिन्न हो जाती है।

बीज शब्द - छायावाद, सुमित्रा नंदन पंत, नारी, नारी-दृष्टि, आदर्श,काव्य, प्रतीक, देवी, माँ, सहचरी, प्राण, आदर्श।

साहित्य और समाज का संबंध परस्पर अन्योन्याश्रित है। एक ओर साहित्य समाज को प्रतिबिम्बित करता है, तो दूसरी ओर समाज साहित्य से दिशा भी ग्रहण करता है। बालकृष्ण भट्ट 'साहित्य को जन समूह के हृदय का विकास' कहते हैं तो रामचंद्र शुक्ल उसे 'जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिंब' कहते हैं। साहित्य से समाज के विचार, मूल्य, मान्यताएं, परंपरा आदि को देखा, परखा जाना संभव है। इसी साहित्य के भीतर कवि या लेखक की कविता या रचना के जरिए समय, समाज को भी देखा, समझा जा सकता है। समाज में सबसे संवेदनशील और सबसे विवादास्पद प्रश्न रहा है कि स्त्री को किस रूप में देखा गया, किस भाषा में परिभाषित किया गया और किस काव्य-कल्पना में स्थापित किया गया ? यह प्रश्न इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि साहित्य में नारी का चित्रण कभी भी तटस्थ नहीं रहा। वह सदैव किसी वैचारिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना से निर्मित होता है। अतः जब हम किसी कवि की नारी-दृष्टि का अध्ययन करते हैं तो वस्तुतः हम कुछ प्रश्नों से एक साथ जूझते हैं कि उस कवि ने

नारी को क्या बनाया अर्थात् उसका आदर्श क्या था? उसने नारी को किस रूप में प्रस्तुत किया अर्थात् उसके प्रतीक कौन से थे? और उस दृष्टि की सीमाएँ कहाँ थीं अर्थात् वह कहाँ चूक गया?

पंत की नारी-दृष्टि को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उस परंपरा को जानें जिसमें वे लिख रहे थे और जिससे वे टकरा रहे थे। आदिकाल में नारी योद्धा-संस्कृति की परिधि पर थी। वह युद्ध का हेतु थी, शक्ति का प्रतीक थी, किंतु अपने लिए नहीं थी। रासो-परंपरा में चाहे वह पृथ्वीराज रासो हो या परमाल रासो नारी का चित्रण मुख्यतः युद्ध के निमित्त के रूप में हुआ है। वहाँ राजकुमारियाँ हैं, रानियाँ हैं, किंतु वे अपने लिए नहीं, पुरुष के शौर्य को प्रमाणित करने के लिए हैं। वीरगाथा काल की नारी पुरुष की वीरता का उद्दीपन तो करती है, किंतु उसकी अपनी स्वायत्त चेतना का काव्य में कोई स्थान नहीं। सिद्ध-नाथ साहित्य में वह तांत्रिक ऊर्जा की प्रतीक अवश्य बनी, किंतु वहाँ भी उसकी सत्ता स्वायत्त नहीं थी।

भक्तिकाल नारी-चेतना का सर्वाधिक जटिल अध्याय है। कबीर ने माया को नारी-रूप देकर उसे बंधन का कारण बताया, तो दूसरी ओर स्वयं 'राम की बहुरिया' बनकर स्त्री-भाव को आध्यात्मिक उच्चता दी। यह विरोधाभास भक्तिकाल की नारी-दृष्टि का मूल तनाव है। पुरुषोत्तम अग्रवाल इस संदर्भ में लिखते हैं कि- "कबीर की काव्यसंवेदना में नारी के प्रश्न पर सर्जनात्मक फाँक इसीलिए है कि दूसरों को चेतावनी देने वाले, साधना की विधि बताने वाले कबीर जो बात साधिका से नहीं सीख पाते, प्रेम में गहरे बूड़ने वाले कबीर सीख जाते हैं। मीराबाई के यहाँ ऐसी फाँक नहीं है, क्योंकि वे तो समाज और शरीर में भी नारी हैं, मन और साधना में भी। ऐसी फाँक तुलसी के यहाँ भी नहीं है क्योंकि प्रदत्त सामाजिक संबंधों की पवित्रता (अर्थात् मर्यादा) उनके लिए ऐसा अनुल्लंघनीय सत्य है; स्त्री-पुरुष संबंध की पुरुषवादी दृष्टि उनके लिए ऐसा अकाट्य तथ्य है कि प्रेम को स्त्री की तरह जीने की संभावना ही तुलसी की काव्य संवेदना के लिए अगम्य है। सूफी साधना परंपरा के प्रभाव और 'प्रकृत काव्य-परंपरा' से जुड़ाव के कारण कबीर में यह अनोखी बात है कि उनकी कविता अपने उपदेशक रूप में तुलसी की नारी निंदा के निकट पड़ती है और अपनी प्रेमानुभूति में मीराबाई के।"[1] जायसी की पद्मावती सूफ़ी साधना का लक्ष्य बनी, दिव्यीकृत तो हुई, किंतु उसकी अपनी आवाज़ नहीं थी। तुलसी की सीता आदर्श पत्नी का अप्राप्य मानदंड बनी जिसने स्त्री को 'देवी' बनाकर उसकी मानवीयता से वंचित किया। सूरदास की गोपियाँ विरह में पहली बार स्त्री-स्वर को मुखर करती हैं, और मीराबाई हिंदी की पहली स्वायत्त स्त्री-आवाज़ बनती हैं जिन्होंने भक्ति को मुक्ति की भाषा बनाया।

रीतिकाल में यह यात्रा अपने निम्नतम बिंदु पर पहुँची। नारी भोग्या बनी, नख-शिख वर्णन की वस्तु बनी, उसकी चेतना और पीड़ा काव्य की परिधि से बाहर रही। द्विवेदी युग ने सुधारवादी दृष्टि से नारी को 'देवी' का आसन दिया किंतु यह भी एक आरोपित प्रतिमा थी, क्योंकि जो देवी है वह मनुष्य नहीं हो सकती। इस पूरी परंपरा के बाद छायावाद का उदय हुआ और पंत ने इस परंपरा से टकराते हुए, इससे कुछ ग्रहण करते हुए और कुछ को अस्वीकार करते हुए अपनी नारी-दृष्टि का निर्माण किया। आदर्श की दृष्टि से देखें तो पंत ने नारी को हिंदी काव्य में एक नई गरिमा दी। उन्होंने 'देवी ! मा ! सहचरी ! प्राण !' - इस चतुर्मुखी संबोधन से नारी के उस समग्र स्वरूप को काव्य में प्रतिष्ठित किया जो न केवल आध्यात्मिक है, न केवल मातृत्व में सीमित है, बल्कि 'सहचरी' के रूप में

पुरुष के समान धरातल पर खड़ी है। रति को स्वीकार करते हुए भी लज्जा को, स्त्री की आंतरिक गरिमा को, काव्य का मूल स्वर बनाना उनके आदर्श की विशिष्टता है। पंत ने नारी और प्रकृति का जो तादात्म्य स्थापित किया, वह एक गहन दार्शनिक दृष्टि है। उनके काव्य में नारी सृजन-शक्ति की प्रतीक है, सौंदर्य की अभिव्यक्ति है, ब्रह्मांडीय ऊर्जा का साक्षात् रूप है। यह प्रतीक-विधान उनके काव्य को एक अद्वितीय आध्यात्मिक आयाम देता है। सीमाओं की दृष्टि से देखें तो यह प्रश्न उठता है कि जो नारी 'सौंदर्य' और 'ऊर्जा' का प्रतीक बन जाती है, क्या वह एक जीवंत सामाजिक सत्ता रह जाती है? क्या उसकी भूख है, उसकी पीड़ा है, उसका संघर्ष है? क्या पंत की नारी अपनी ठोस ऐतिहासिक वास्तविकता से विच्छिन्न होकर एक काव्यात्मक स्वप्न-प्रतिमा तो नहीं बन जाती? छायावाद के चार प्रमुख स्तंभों में सुमित्रानंदन पंत की नारी-दृष्टि सर्वाधिक विकासशील, बहुस्तरीय और दार्शनिक रही है। उनकी काव्य-यात्रा 'पल्लव' से 'लोकायतन' तक फैली हुई है और इस पूरी यात्रा में नारी का स्वरूप निरंतर परिष्कृत और पुनर्परिभाषित होता रहा है। पंत की नारी एक ही काव्य-यात्रा में शरीर से आत्मा की ओर और भावना से दर्शन की ओर यात्रा करती है, यह परिवर्तन उनके समस्त काव्य का विशिष्ट आधार है।

वास्तव में आधुनिक कविता के विद्रोही स्वर में स्त्री भी एक सांस्कृतिक विद्रोह के रूप में प्रस्तुत हुई। इस संदर्भ में पंत कहते हैं- "छायावाद की नारी में भारतीय जागरण का नैतिक बल ही नहीं उसमें विश्व मानवी का व्यापक सहानुभूतिपूर्ण स्वस्थ स्नेह-संवेदन भी है। वह घर की देहरी लाँघकर यमुना की कामना की गहराइयों में नीचे और नीचे उतरती हुई सीढ़ियों पर नहीं फिसल पड़ती। वह देह-बोध के परदे से बाहर निकलकर, मध्ययुगीन काम-लाज का गुंठन मुख से हटाकर, सामाजिक दायित्व के प्रति जाग्रत, स्त्री-स्वातन्त्र्य के राजपथ पर नए शील के चरण धरकर आगे बढ़ती है। छायावाद का प्रणय-निवेदन स्वस्थ स्वाभाविक राग-भावना का द्योतक प्रेम-प्रगीत है, वह राधा-माधव के वेष्टनों में निम्न प्रवृत्तियों का उच्छृंखल श्रृंगार-रस सम्मत, संचारी व्यभिचारी भावों द्वारा व्यक्त, रति-निमंत्रण नहीं है। उसमें स्त्री-पुरुषों की सामाजिक उपयोगिता पर आधारित एक नवीन सांस्कृतिक चेतना का आह्वान मिलता है। जिस प्रकार मिर्च मसालेदार व्यंजनों के प्रेमियों को सात्विक पौष्टिक द्रव्यों से पूर्ण भोजन स्वादहीन लगता है, उसी प्रकार यदि रीतिकालीन पर्वताकार नितंबों तथा स्तनों से टकराने वाले, नेत्रवाणों से आहत, श्रृंगार रस के प्रेमियों को छायावाद की रस-संस्कृत शोभा-मंडित नारी वायवीय या अशरीर लगती है तो इसमें आश्चर्य नहीं।"[2] पंत ने द्विवेदीयुगीन नीरसता का विरोध कर निजी दृष्टि से वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करते हुए स्त्री के उदात्त, स्वतन्त्र और प्रगतिशील व्यक्तित्व को ही काव्य में स्थान दिया। पंत की मान्यता है कि पुरुष प्रधान समाज की जंजीरें स्त्री को इस कदर बाँधे रहती हैं कि वह अप्रगतिशील और जड़ हो गयी है। पुरुष ने स्त्री को वासना पूर्ति का साधन मात्र बना दिया और उसके अधरों पर एक निश्छल, स्वस्थ चुम्बन तक अंकित नहीं कर सकता। 'द्वन्द्व प्रणय' नामक कविता में कवि कहते हैं-

"धिक् रे मनुष्य ! तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुम्बन,
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर ?
मन में लज्जित, जन से शंकित चुपके गोपन

तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से कायर?"[3]

पंत सर्वथा एक नई नैतिकता का प्रचलन करना चाहते हैं जो स्त्री-पुरुष के दैहिक मिलन को घृणा की वस्तु न मानकर स्वाभाविक प्रवृत्ति मानता हो। यह एक नैसर्गिक क्रिया है जो प्रेम की धारा समाहित करती है। स्त्री सम्बन्धी इस नैतिकता का सारा दारोमदार प्रेम पर है। प्रेम की उपस्थिति में ही विवाह की सार्थकता है। 'परकीया' कविता में कवि कहते हैं-

"पति-पत्नी का सदाचार भी नहीं मात्र परिणय में पावन,

काम निरत यदि दंपति-जीवन, भोग मात्र का परिणय साधन।"[4]

पंत स्त्री-पुरुष के बीच विवाहेत्तर सम्बन्धों की वकालत करते हैं बशर्ते उन सम्बन्धों में सात्विक प्रेम हो-

"अतः स्वकीया या परकीया जन-समाज की है परिभाषा,

कामयुक्त औ प्रीतियुक्त होगी मनुष्यता, मुझको आशा।"[5]

सुमित्रानंदन पंत ने स्त्री को सर्वथा एक नए परिवेश में, नयी भाव भूमि पर प्रतिष्ठित कर अखंड शक्ति और सौन्दर्य से युक्त माना है। **सुमित्रानंदन पंत** की कविता **नारी** में स्त्री को मात्र जैविक सत्ता या पुरुष-आश्रित अस्तित्व मानने वाली पितृसत्तात्मक दृष्टि का स्पष्ट प्रतिवाद किया गया है। 'योनि नहीं है रे नारी' कहकर पंत स्त्री की मानवीय गरिमा और अस्तित्वगत समानता की स्थापना करते हैं तथा उसे 'मानवी प्रतिष्ठित' रूप में स्वीकारते हैं। वे स्त्री-स्वाधीनता को केवल सामाजिक अधिकार का प्रश्न नहीं, बल्कि मानव-सभ्यता के नैतिक उत्कर्ष की अनिवार्य शर्त मानते हैं; इसलिए 'उसे पूर्ण स्वाधीन करो' का आह्वान वस्तुतः पुरुष-केन्द्रित संरचना के विघटन की माँग है। जो समाज स्त्री का सम्मान नहीं करता, उसे वे नैतिक दृष्टि से पतित और पशुत्व से भी हीन मानते हैं। किंतु पंत का समाधान संघर्ष या द्वंद्व में नहीं, बल्कि 'नर-नारी के सहज स्नेह' में निहित है। उनकी दृष्टि में स्त्री-पुरुष संबंध प्रभुत्व या प्रतिस्पर्धा का नहीं, पूरक सह-अस्तित्व का होना चाहिए, जिससे मानव की 'सूक्ष्म वृत्ति' अर्थात् उच्चतर संवेदनशील और सांस्कृतिक चेतना विकसित हो सके। इस प्रकार पंत की स्त्री-दृष्टि उदार मानवतावादी, समन्वयवादी और नैतिक आदर्शवाद से संपृक्त है। 'नारी' कविता में उनके यह विचार स्पष्ट होते हैं-

"योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित,

उसे पूण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित !

द्वन्द्व क्षुधित मानव समाज पशु जग से भी है गर्हित,

नर नारी के सहज स्नेह से सूक्ष्म वृत्ति हों विकसित।"[6]

यह तभी सम्भव है जब स्त्री को पूर्णतः स्वतन्त्र व्यक्तित्व मिले। पंत स्त्री के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना करके उसे जीवन के सभी रूढ़ पाशों से मुक्त करने की बात करते हैं। इसी कविता में वे आगे कहते हैं - "मुक्त करो जीवन संगिन को जननी देवी को आदृत जग-जीवन में मानव के संग हो मानवी प्रतिष्ठित।"[7] स्त्री का सर्वथा स्वतन्त्र

व्यक्तित्व पंत के लिए स्पृहणीय है। वह स्त्री समस्त गुणों की समावेशित किये हुए है, परिणामतः उसके विशाल हृदय में ही मानव जीवन को विश्राम मिलता। पंत के काव्य में स्त्री आदि शक्ति स्वरूपा है और उसका सौन्दर्य अमरत्व प्रदान करने वाला है-

"स्वप्नमयि ! हे मायामयि !
तुम्हीं हो स्पृहा, अश्रु औ' हास, सृष्टि के उर की साँस;
तुम्हीं इच्छाओं की अवसान,
तुम्हीं स्वर्गिक आभास;
तुम्हारी सेवा में अनजान
हृदय है मेरा अन्तर्धान;
देवि ! मा ! सहचरि ! प्राण।"[8]

स्त्री के अन्दर स्नेह और सुन्दरता का गुण मानव मात्र में उसके लिए अनुराग की सृष्टि करने वाला है। स्त्री अकेली होकर भी समस्त ऐश्वर्य का संधान करने वाली है। स्त्री के भीतर क्षमा, दया, त्याग, तपस्या, सेवा और प्रेम आदि गुण ही कलाकार के प्रेरणास्रोत हैं। स्त्री की पवित्रता एक ओर गर्व की अनुभूति कराती है तो दूसरी ओर उसकी शक्ति सम्मान करने पर विवश करती है-

"स्नेहमयी ! सुन्दरमयि
तुम्हारे रोम-रोम से नारि !
मुझे है स्नेह अपार !
तुम्हारे मृदु उर ही सुकुमारि !
मुझे है स्वर्गागार।
तुम्हारे गुण हैं मेरे गान,
मृदुल दुर्बलता ध्यान;
तुम्हारी पावनता, अभिमान,
शक्ति पूजन सम्मान;
अकेली सुंदरता कल्याणी !
सकल ऐश्वर्यों की संधान।"[9] (युगवाणी-पंत)

पंत का स्त्री सम्बन्धी दृष्टिकोण उदात्त और उदारता से युक्त होकर स्त्री के प्रेयसी रूप की निःसन्देह श्लील, पावन छवि गढ़ता है और उसे उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित भी करता है। पंत के काव्य में स्त्री प्रेयसी रूप में निखिल प्रकृति में प्रतिबिम्बित होती है जो प्रेम की चरम इयत्ता दृष्टिगोचर कराती है- 'आज मुकुलित कुसुमित चहुँ ओर/ तुम्हारी छवि की छटा अपार।' 'भावी पत्नी के प्रति' (सन् 1927) शीर्षक रचना में पंत उस स्त्री को देखते हैं, जो उनके लिए सुख ला दे, उनके अकेलेपन के विषाद मिटा दे। पंत 'ग्राम्या' संग्रह में नारी की प्रतिमा अंकित करते हुए नारी के दुर्भाग्य को प्रकट करते हैं। स्त्री की तुलना कवि कभी 'बंदिनी' से करता है, कभी 'चकित भीत हरिणी' जो 'निज चरण-चाप में शंकित है', या 'स्थापित घर के कोने में कम्पित दीपशिखा' से करते हैं। स्त्री की दास्यपूर्ण दुखदस्थिति को ठीक-ठाक और सशक्त अभिव्यक्तिशील ढंग से प्रकट करने वाले कवि का प्रिय रूपक 'नर की छाया' है। परिवार में और समाज में भी स्त्री की इच्छापूर्ण दशा की विषमताओं को पंत ने अपने काव्य का माध्यम बनाया। 'ग्राम्या' में सीधी-सादी ग्राम-नारी के वास्तविक सौन्दर्य एवं दैनिक पावित्र्य पर बल देने के लिए पंत गुण-विशेषणों का विस्तृत प्रयोग करते हैं। ग्राम-नारी के मुक्त, स्वस्थ, कृत्रिमता-रहित, रूप-सौन्दर्य और बुर्जुआ समाज की नारी का जीवन 'जग से चिर ज्ञात अपने ही सौन्दर्य में लीन है' की तुलनाओं में यह विशेष रूप से देखा जा सकता है। पंत अपने काव्य में स्त्री की दुरवस्था को अतिशय तीव्रता के साथ अनुभव करते हैं और इस व्यवस्था में निहित स्त्री के प्रति अन्याय के विरोध का भाव उनके भीतर बड़े तीव्र वेग के साथ उत्पन्न हुआ है। पंत बार-बार आह्वान करते हैं कि समाज स्त्री के चेतनामय और रचनामय रूप को पहचाने और उसे देह के कारागार से मुक्त कर जीवन के पोषण और विकास में उसे अपनी सहज भूमिका निभाने का अवसर दें। पंत के काव्य में स्त्री गंगा के रूप में व्याख्यायित हुई है जो कभी भी अपवित्र नहीं होती-

"स्त्री गंगा है! नाले भी मिल जायें उसमें,
वह पवित्र, निर्मल ही रहती! माँ है वह!"[10]

दैहिक कलंक के भय से स्त्री की असमर्थता और असहायता देखकर पंत के मन का विक्षोभ नारी या स्त्री-मुक्ति की बार-बार माँग करता है, अभीप्सित स्त्री-मुक्ति में स्वेच्छाचार और असंयम का इनके यहाँ कोई स्थान नहीं है। नारी या स्त्री-मुक्ति से सम्बन्धित सुमित्रानंदन पंत का स्वर कहीं-कहीं ऐसा भी हो गया है जिससे कुछ ऐसा अभिप्रेत निकलता है मानो पंत स्त्री को परिवार और दाम्पत्य की सीमा से बाहर निकालकर सर्वथा युक्त भाव से लोक-निर्माण और जन-कल्याण का कार्य करने के लिए आमंत्रित कर रहे हों-

"मुक्त करे स्त्री को, नारी को मुक्त करे नर,
महामन्त्र बल यह, सामूहिक योग इसी से
सिद्ध धरा पर होगा ! मनुज प्रकृति का जिससे
दिव्यीकरण स्वतः ही सम्भव हो जाएगा !
काम द्वेष से दंशित अभी मनुज जीवन मन

अभी धरा परिवेश परिष्कृत नहीं हो सका !

यह सामूहिक ब्रह्मचर्य होगा वास्तव में,

लोग संयमित-भोग करेंगे भू-जीवन का !

स्त्री न कभी होती अपवित्र चराचर की मा,

अनघ-विद्ध स्त्री की पवित्रता सृष्टि चक्र में।"[11]

इस प्रकार समग्रतः यह कहा जा सकता है कि स्त्री के प्रति पंत की जो प्रारम्भिक सौन्दर्य भावना रही है उसने उत्तरोत्तर वास्तविकता का आधार लिया। कवि जिस महान् स्वतन्त्रता के मुक्त वातावरण में स्त्री-पुरुष के लिए सर्वथा नए और सार्थक जीवन की कल्पना करता है, वहाँ तुच्छ, संकुचित वासनाओं और भावनाओं के लिए स्थान नहीं। पंत के काव्य में स्त्री के मायने आदर्शवादी विचारधारा से निर्धारित होते हैं। वे स्त्री की पुरुषवादी मानसिकता से मुक्ति की बात तो करते हैं लेकिन कहीं भी आर्थिक मुक्ति की चर्चा नहीं करते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पंत स्त्री की रूढ़ विचारधारा से मुक्ति की बात तो करते हैं लेकिन यह मुक्ति कैसे सम्भव है इसकी कहीं विशेष चर्चा नहीं है। इसे उनकी और उनके समय, समाज की सीमा भी माना जा सकता है। अधिकांश मौकों पर उनकी कविता आदर्शवादी सी प्रतीत होती है। यद्यपि यह आदर्शवाद भी उस समय सराहनीय था। उनकी कविता में स्त्री प्रश्नों के समाधान का दायित्त्व अक्सर पुरुषों पर देखा जा सकता है। स्त्री के अन्दर प्रेम भाव की उपस्थिति पर पंत सदैव ध्यान देते हैं परन्तु उसके लिए शिक्षा की अनिवार्यता, उसके महत्त्व की बात नहीं दिखती। एक आधुनिक रंग-ढंग में ढली स्त्री की तुलना में पंत के यहाँ ग्राम्य परिवेश की स्त्री अधिक महत्त्व पाती है। पंत के काव्य में स्त्री का वह रूप जो पुरुष के समान्तर अपने अधिकारों का उपयोग करे, नहीं दिखाई देता है यद्यपि ऐसे रूप की आदर्शवादी कल्पना पंत की कविता में अपने सुंदरतम रूप में मिलती है। आज वर्तमान संदर्भों में यह नितान्त आवश्यक हो गया है कि समाज स्त्री को बोझिल आदर्शवाद के दायरे से मुक्त करे साथ ही उसे आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करते हुए पुरुष के समतुल्य अस्तित्व प्रदान करे। और यह कार्य केवल पुरुषों का न हो। स्त्रियों को भी इस अधिकार के लिए आगे आना होगा। समता की यात्रा को अभी और आगे तक ले जाने की आवश्यकता है। आज जब स्त्री-विमर्श एक सुस्थापित वैचारिक अनुशासन बन चुका है, तब पंत के काव्य का पुनर्पाठ और भी अनिवार्य हो जाता है। पंत हिंदी के उन विरल कवियों में हैं जिन्होंने नारी को काव्य का विषय नहीं, काव्य की अंतरात्मा बनाया किंतु यह अंतरात्मा 'भावसत्ता' तो है, परंतु 'सामाजिक सत्ता' पूरी तरह नहीं बन पाती। यही तनाव पंत-काव्य की नारी-दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता भी है और सबसे बड़ी सीमा भी।

संदर्भ सूची-

1. अग्रवाल, पुरुषोत्तम. (2000). विचार का अनंत. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 169
2. कुमार, विमल. सं. (2021). सुमित्रानंदन पंत रचना संचयन. नई दिल्ली : साहित्य अकादमी. पृष्ठ संख्या- 471
3. पंत, सुमित्रानंदन. (1979). सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली खंड 2. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 168

4. पंत, सुमित्रानंदन. (1979). सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली खंड 2. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 330
5. पंत, सुमित्रानंदन. (1979). सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली खंड 2. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 330
6. पंत, सुमित्रानंदन. (1979). सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली खंड 2. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 167
7. पंत, सुमित्रानंदन. (1979). सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली खंड 2. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 100
8. पंत, सुमित्रानंदन. (1926). पल्लव. प्रयाग : इंडियन प्रेस लिमिटेड. पृष्ठ संख्या- 79
9. पंत, सुमित्रानंदन. (1926). पल्लव. प्रयाग : इंडियन प्रेस लिमिटेड. पृष्ठ संख्या- 79
10. पंत, सुमित्रानंदन. (1979). सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली खंड 7. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 198
11. पंत, सुमित्रानंदन. (1979). सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली खंड 7. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 354

डॉ. तरुण कुमार
हर्ष विहार, दिल्ली
संपर्क सूत्र : 9560836978
ईमेंल पता : talk2tarun89@gmail.com

'जंगल के फूल' उपन्यास में मानवीयता की अभिव्यक्ति

मनुष्यता मनुष्य के लिए ऐसा मूल्य है जो उसे अन्य मनुष्य से भिन्न नहीं देखती और न ही उसे भिन्न समझती है। वह मानवीयता को मनुष्य के व्यक्तिगत मूल्यों के साथ-साथ उसके सामाजिक मूल्यों में भी निहित दिखाई देती है। मानवीयता मनुष्य का वह गुण है जो मनुष्य को मनुष्य से गुण और दोष दोनों के आधार पर जोड़े रखती है। यह मनुष्य को यह उसके अच्छाई और बुराई के आधार पर जानने को मिलती है। मनुष्य जानता और समझता है कि वह कहाँ पर अनैतिक और नैतिक रहा है और यही नैतिकता उसके उस दायित्व का बोध कराती है जो उसके मूल्यों में निहित है और यही मूल्य उसे समाज, परिवार और अन्य सम्बन्धों के माध्यम से बोध होते हैं। यही संवेदनाएँ मनुष्यों को समाज में उसके मूल्यों को पहचानने में सहायक सिद्ध होती है। जैसा कि हम जानते हैं मनुष्य और समाज के मध्य एक अटूट संबंध है या यूं कहें कि दोनों एक इकाई के दो अलग-अलग पहलू है परंतु दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। मनुष्य के मूल्य जहां समाज में निहित हैं तो वहीं समाज से मनुष्य को उसके मूल्यों का बोध होता है। 'मूल्य' समाज में मनुष्य को व्यावहारिक बनाते हैं। सभी मूल्य समाज में मनुष्य की नैतिकता, विवेक और बुद्धिक्षमता को दर्शाते हैं। मनुष्य अपने मूल्य की पहचान समाज में, समाज के समक्ष एक व्यापक, सुदृढ़ और बेहतर व्यवहार का उद्बोधन करता है। मूल्यों के बारे में हुकुमचंद का मानना है कि- "मूल्य उतने ही प्राचीन हैं। चिंतन से विचार बनते हैं, विचारों से धारणा का जन्म होता है तथा धारणा से मूल्यों का निर्माण होता है। प्रत्येक समाज में जीवन और परस्परिक व्यवहार के संबंध में कतिपय धारणाएँ होती है। यही धारणाएँ स्थिर होकर मूल्य बन जाती है।"[1] उक्त पंक्तियों में समाज के अंदर ही मनुष्य के मूल्य समाहित है। वहीं अगर मूल्यों की बात करें तो मुख्यतः प्रेम, सत्य, अहिंसा, दया और शांति आदि प्रमुख नैतिक मूल्य हैं। इन्हीं मूल्यों को हम विस्तारित रूप में संस्कार, शिष्टाचार और अनुशासन आदि मनुष्य क्रियाओं से निर्मित पाते हैं जिन्हें मनुष्य परिवार, समाज, शैक्षणिक संस्थाओं में शिक्षा और व्यवहार के माध्यम से प्राप्त करता है। धर्मवीर भारती मानवीय मूल्यों को कुछ इस प्रकार से अभिव्यक्त करते हैं- "वह वर्तमान मनुष्य के यथार्थ को अपना मान ही कैसे सकता था ? वह तो मनुष्य के सत्य और असत्य से बहुत ऊपर, नैतिक मूल्यों से सर्वथा परे एक ऐसा प्राणी है जो असत्य को भी एक सेतु मानता है- महत्वाकांक्षा का सत्ता प्राप्त करने का जिसके लिए नैतिकता की धुरी निरर्थक है।"[2] उक्त पंक्तियों में भारती ने मानवीय मूल्यों के ह्रास को नैतिक मूल्यों का ह्रास कहा है जो मनुष्य सत्ता पाने के लोभ में स्वयं के मूल्यों को लोभवश पतन की ओर ले जाता है और जैसे ही मानवीय मूल्यों का पतन होता है तो मनुष्य जीवन के वास्तविक मूल्यों का विपरीत पक्ष हमारे सम्मुख प्रकट हो जाता है।

'आदिवासी' शब्द अंग्रेजी 'tribe' (ट्राइब) का हिन्दी अनुवाद है। जिसका शाब्दिक अर्थ है मूल निवासी। आदिवासी मूलतः आदिम युग से रहनेवाली जातियाँ हैं। आदिवासी लोग वे लोग हैं जो प्राचीन समय से जीवनयापन के लिए जंगलों में संघर्ष करते रहे और इनका यह संघर्ष आज भी जारी है। यह समाज सामान्य समाज से कटा हुआ कहा जाता है। यह समाज मुख्यधारा में रहनेवाले समाज से विपरीत जीवनयापन करता है जिसके पास किसी भी प्रकार के अधिकार नहीं थे और इसी प्रकार इनके मानवीय मूल्य भी मुख्यधारा के समाज के मनुष्य के समान होते हुए भी उनके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं हो पाते हैं। यह समाज एक पिछड़े हुए समाज की तरह जीवनयापन करता है। इनके रीति-रिवाज, प्रथाएँ और इनकी मानसिकता इनके समाज की रूढ़ियों और अंधविश्वासों के कारण इनको मुख्यधारा के समाज से खास बनाते हैं। आदिवासी समाज में व्यापात मूल्य इन्हीं रूढ़ियों, अंधविश्वासों, रीति-रिवाजों, प्रथाओं आदि विद्यमान हैं। यह समाज भी मुख्यधारा के समाज की तरह प्रेम, सत्य, अहिंसा, दया और शांति का अपने जीवन में सकारात्मक एवं नकारात्मक रूप में उद्बोधन करता है। आदिवासी मनुष्य मुख्यधारा के समाज में स्वयं को असहाय, शोषित, पीड़ित और अधिकारों से वंचित महसूस करता है और जब कोई मनुष्य सभी मानवाधिकारों से वंचित होता है तो वह स्वयं को समाज से अलग और बहिष्कृत महसूस करता है। इसे हम उसके मानवीय मूल्यों का हनन कह सकते हैं। जैसे दलित समाज के मूल्यों का हनन होने पर उनके मूल्य असत्य, हिंसा, अशांति, निर्दयता, अप्रेम (घृणा, नफ़रत) आदि रूप में उनके जीवन को बाधित करते हैं जो दलित समाज में विरोधी, विद्रोही, प्रतिरोधी और सहनशील क्षमता को बढ़ाते हैं। वहीं आदिवासी समाज अपने मूल्य अपनी संस्कृति, संस्कारों, रहन-सहन, रीति-रिवाजों, शिष्टाचार आदि के आधार पर दर्शाता है। उनके समाज के मूल्यों में वही प्रेम, सत्यता, अहिंसा, दया और शांति देखने को मिलती है जो सामान्य और दलित समाज में देखने को मिलती है।

हिन्दी साहित्य में आदिवासी समाज पर आधारित कविता, कहानी और उपन्यास आदि में लेखन हो रहा है। ऐसी ही एक विधा उपन्यास है। आदिवासी समाज आधारित उपन्यासों में देवेंद्र सत्यार्थी का रथ के पहिए, रांगेय राघव का कब तक पुकारूँ, राजेंद्र अवस्थी का जंगल के फूल, राकेश वत्स कृत जंगल के आस-पास, राजेंद्र अवस्थी का सूरज किरण की छांव, शिवप्रसाद सिंह कृत शैलूष, मनमोहन पाठक कृत गगन घटा घहरानी, संजीव का धार, जंगल शुरू होता है और पाँव तले दूब, श्री प्रकाश मिश्र का जहां बांस फूलते हैं, मैत्रेयी पुष्पा का अल्मा-कबूतरी, रणेन्द्र का ग्लोबल गाँव का देवता आदि हैं। प्रस्तुत आलेख मुख्यतः राजेंद्र अवस्थी के उपन्यास जंगल के फूल में आदिवासी समाज के मानवीय मूल्यों पर आधारित है। आदिवासी समाज में मानवीय मूल्यों की बात करें तो ये मूल्य मुख्यधारा के मनुष्य मूल्यों से भिन्न नहीं हैं। परंतु समाज और संस्कृति में परिवेश एवं परिस्थितियों के आधार पर इनमें भिन्नता मिल जाती है। मुख्यधारा के समाज में जहां प्रेम मनुष्य जीवन का एक ऐसा मूल्य है जो समाज में रहने वाले मनुष्यों के मध्य विभिन्न सम्बन्धों को दर्शाता है प्रेम समाज में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका, भाई-बहन, इंसान का अन्य इंसान के प्रति स्नेह भाव आदि हैं। इसलिए प्रेम मनुष्य जीवन की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है। इस बारे में आलोचक एरिक फ्राम का मानना है कि "अगर इसी संवेदनशीलता को हम मानवीय संदर्भों में देखें तो माँ और शिशु का उदाहरण दिया जा सकता है। वह शिशु की हर माँग को, उसकी हर

जरूरत, हर तकलीफ को तुरंत भांप लेती है। बच्चे के हल्के से रुदन से भी उसकी आँख खुल जाती है, जबकि उससे कहीं ज्यादा शोर-शराबा भी उसकी नींद भंग नहीं कर पाता। इसका यही अर्थ हुआ कि वह बच्चे के जीवन-संवेगों के प्रति बहुत संवेदनशील है।"[3] स्पष्टतः प्रेम मनुष्य की संवेदनशीलता का प्रतीक है। जंगल के फूल उपन्यास में जनजातीय समाज में प्रेम की स्थिति भिन्न रूप में व्यक्त हुई है। उसके पात्रों में सुलाकसाए का महुआ के प्रति प्रेम झिरिया और पंजाबी व्यक्ति के मध्य प्रेम, झालरसिंह और जलिया आदि के मध्य प्रेम चित्रित है वहीं दूसरी ओर अंग्रेजी शासन की उनके प्रति अप्रेम की भावना भी इस उपन्यास में देखने को मिलती है। उदाहरण स्वरूप जंगल के फूल की पंक्ति कुछ इस प्रकार हैं- "जलिया ने अपनी फूली लाल आँखों से चारों ओर देखा। वह घोटुल की की बाजू से चला जा रहा था। जलिया दौड़कर उससे लिपट गई और फूट-फूट कर रोने लगी। झालरसिंह ने उसके सिर पर हाथ फेरा- 'भूल जा जलिया, सब कुछ भूल जा। यह भी कि कभी हम मिले थे। कभी एक साथ रहे थे।' उसने जलिया के आँसू पोंछे- 'बस जलिया, बस।"[4] उक्त पंक्तियों में प्रेम का अटूट चित्रण देखने को मिलता है। साथ ही उस प्रेम को न पाने की पीड़ा भी देखने को मिलती है। इसी प्रकार वे अपनी अन्य पंक्ति में कुछ इस प्रकार अपने पात्रों के माध्यम से दर्शाते हैं- "मेरे पेपी ने सबके सामने झिरिया को खूब मारा और उसका बिहाव गाँव के ऐसे लड़के के साथ कर दिया जिसे वह बिलकुल नहीं चाहती थी। पंजाबी ने किसी से कुछ नहीं कहा। वह इसी परछी में बैठा आँसू बहाता रहा, परंतु जिस रात झिरिया का बिहाव हुआ, उसी रात वह सामने के पीपल के झाड़ में फंदा लगाकर लटक गई।"[5] उक्त पंक्ति में झिरिया और पंजाबी के वियोग की कहानी को दर्शाया गया है जहां झिरिया पंजाबी से न मिलने के पश्चात फांसी लगाकर अपनी जान दे देती है।

दूसरी ओर, सामान्य जीवन में सत्य की महत्ता जिस प्रकार मनुष्य जीवन में उसके मूल्यों को निर्धारित करती है। यदि मनुष्य अपने जीवन सत्यता को ग्रहण करता है तो वह समाज के समक्ष अपनी नैतिकता को दर्शाता है। वह अपने इस मूल्य के आधार पर समाज के समक्ष स्वयं को अच्छे आचरण वाले व्यक्ति के रूप में उदाहरणस्वरूप रखता है। मनुष्य जीवन में सत्यता को रामविलास शर्मा कुछ प्रकार व्यक्त करते हैं- "जीवन में जो ज्ञान अथवा विचार चरितार्थ हो, वह सत्य है शेष असत्य है।"[6] रामविलास शर्मा ने मनुष्य जीवन में ज्ञान और विचार को सत्य का प्रतीक माना है। जनजातीय समाज जंगल में अवश्य रहता है परंतु वह अपने मानवीय मूल्यों को बेहतर समझता है। इसलिए वह अपने समाज के प्रति एक सत्यनिष्ठ दायित्व के तहत सुचारु रूप से सक्रिय रहता है और अपने समाज में ज्ञान और विचारों को सक्रियता के साथ निभाता है। उसका यह ज्ञान और विचारों में सत्यता उसके समाज में संस्कृति और संस्कारों आदि में देखने को मिल जाते हैं। इस ओर रामविलास शर्मा का मानना है- "सत्य का संबंध परोक्ष सत्य से नहीं है वरन् सदाचार से है।"[7] राजेंद्र अवस्थी जंगल के फूल में मानवीय मूल्य को कुछ इस प्रकार दर्शाते हैं-

"गायता ने कहा- 'हुजूर!'

'हाँ'- गोरा ठहर गया।

'एक बात कहने आया हूँ, सिरकार!'

'येस, येस, कओ।'

'हमारे यहाँ थानागुड़ी है, सिरकार!'

'ये किया?'

'थानागुड़ी- वहीं हम गाँव में आये हर मिहमान को ठहराते हैं।"[8]

उक्त पंक्ति में लेखक ने अंग्रेजी हुकूमत के प्रति आदिवासी समाज के सदाचार को दर्शाया है जो उनके समाज का एक ऐसा मूल्य है जो उनके संस्कारों में विद्यमान है और कहीं न कहीं उनकी सत्यता का प्रतीक है। वहीं दूसरी ओर वे अपनी एक अन्य पंक्ति में आदिवासी जीवन के मूल्य कुछ इस प्रकार वर्णित करते हैं- "गाँव में कानून हैं। बड़े-बूढ़े उन्हें बना गए हैं। पंचतोर तो देवता की आसिनी पर बैठता है, और तू यह सब जनता है। मुझे तो न्याय करना था, और न्याय यही है कि भगेला अपने साहूकार की बेटी को नहीं ब्याह सकता। भगेला को भला समाज में कौन पूछता है।'"[9] उपन्यास की इस पंक्ति में लेखक ने आदिवासी समाज के एक ऐसे सत्य को उजागर करने का प्रयास किया है जहां उनके समाज का चौधरी के यहाँ भगेला बनकर अपने पूर्वजों का कर्ज चुकाने के लिए आजीवन कार्य करता है। इस पंक्ति से स्पष्ट होता है कि आदिवासी समाज अपने मूल्यों और अधिकारों से किस प्रकार वंचित था।

मानवीय मूल्यों में अहिंसा और दया भी एक ऐसा मूल्य है जो मनुष्य को समाज में बेहतर आचरण के लिए प्रेरित करता है। अहिंसा मनुष्य को सदैव हिंसा, लड़ाई-झगड़ा न करने की प्रेरणा देती है ताकि वह दूसरों के प्रति दया भाव की भावना रख सके और यह अहिंसा और दया उसे दूसरों के प्रति सहज स्वभाव रखने पर मजबूर भी करती है। जब मनुष्यों में किसी अन्य मनुष्य के प्रति संवेदनाओं का उदय होता है तो वह मनुष्य संवेदनशील बन जाता है और वह अन्य मनुष्यों के प्रति दया और अहिंसा का भाव रखता है। वहीं अगर यही भाव मनुष्य में विपरीत तरह से विद्यमान हों तो वह मनुष्य अन्य के प्रति घृणा, नफरत और हिंसा का भाव रखेगा। रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक भारतीय संस्कृति और हिन्दी-प्रदेश में कहा है कि- "जो स्वयं जीवित रहना चाहता हो वह दूसरों के प्राण कैसे ले सकता है? मनुष्य अपने लिए जो-जो सुख-सुविधा चाहे, वही दूसरों के लिए भी सुलभ करने की बात सोचे।"[10] राजेंद्र अवस्थी के उपन्यास जंगल के फूल में उनका एक पात्र दूसरे पात्र से कहता है कि- "वह बोला- तो करो धावा। पहले मैं तुम पर हाथ नहीं उठाऊंगा। एक ने नीचे से एक पत्थर उठाया और उसकी ओर फेंका। वह पत्थर उसकी छाती से जा टकराया। उसने पत्थर की मार झेल ली और हाथ में उठा-उठाकर डबुलियों को चारों ओर फेंकना शुरू किया। उनसे निकल-निकल कर कीड़े उन्हें काटने लगे। आदमियों में खलबली मच गई। वे घबराकर भाग गए। वह अकेला गोंड उन सब लोगों को हराकर चला आया। सुना है कि उस शहर में सात दिन तक कीड़े बराबर उड़ते रहे। हजारों आदमियों की उन्होंने जानें लीं।"[11] यहाँ राजेंद्र अवस्थी आदिवासी समाज की सहनशीलता को दर्शा रहे हैं जिसमें उनके द्वारा रचित पात्र उस पर किए गए वार का पलट कर जवाब देता है जो कि सामान्य मूल्य अहिंसा का प्रति नहीं है और न ही हिंसा का परंतु आदिवासी समाज कभी भी हिंसा में विश्वास नहीं करता। उंदाहरणस्वरूप एक अन्य पंक्ति में उनके मूल्यों का हनन कुछ इस प्रकार दिखाया है- "ये आदमी बड़े

चालाक हैं, बेटा। एक दिन कुछ लोग मिलकर हमारे पास आए। उन्होंने हमारी तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ाया। ज़मीन से मिट्टी उठाकर उन्होंने मुंह में रखी और मित्र बनने की कसम खाए। फिर हमें क्यों न उस पर भरोसा हो करें! ये आदमी उस दिन से हमारे मित्र बन गए। परंतु मित्र बनकर इन्होंने हमारा गला काट लिया। इन्होंने हमारे जंगल हमसे छीन लिये और कहने लगे- 'जंगल में इन-इन झाड़ो का तो तुम उपयोग करो, इन-इनका नहीं कर सकते। इन्हें नहीं काट सकते। ये तुम्हारे नहीं हैं।' एक तो उन लोगों ने हमारे जंगल हमसे छीन लिये और अब...।"[12] प्रस्तुत पंक्ति के आधार पर पता चलता है कि उस समय किस प्रकार से आदिवासी समाज के जंगल जो उनकी संपत्ति थी छीन लिए गए। मनुष्य अगर समाज शांत में भाव से रहता है तो वह अन्य मनुष्य को अपने इस शांत स्वभाव और आचरण से न सिर्फ प्रभावित करेगा अपितु समाज के अन्य मनुष्य के स्नेह का पात्र भी बनेगा। यह शांत स्वभाव उसे प्रेम के मार्ग पर लेकर जाएगा जो उसे घृणा और नफरत आदि से दूर रखेगा और वह अहिंसा और लड़ाई-झगड़े से दूर रहेगा जिससे दूसरों को क्षति न पहुंचे। प्रसिद्ध आलोचक रामविलास शर्मा मनुष्य के शांत स्वभाव के बारे में ये मानना है- "यदि मनुष्य किसी से घृणा न करेगा तो किसी की हिंसा भी न करेगा।"[13] प्रस्तुत पंक्ति के माध्यम से रामविलास शर्मा ने मनुष्य को दूसरे मनुष्य के प्रति घृणा करने से बचने के लिए कहा जिससे वह मनुष्य शांत स्वभाव और अहिंसा का मार्ग प्रशस्त करेगा। वहीं आदिवासी समाज अपने संस्कारों और संस्कृति के कारण समाज में अपनी एक अलग पहचान बनाता है। उनके संस्कारों में, उनकी संस्कृति में वह शांत स्वभाव देखने को मिल जाता है जहां वे अपने जंगल के प्रति प्रेम और अन्य व्यक्ति के प्रति घृणा से स्वयं को बचते हैं। उदाहरणस्वरूप जंगल के फूल उपन्यास की एक पंक्ति निम्नलिखित है- "ठहरो- सुलक बोला- 'मुरगा चाहे तेरा जीता हो तिलोका, पर तूने देखा लड़ाई का फल क्या होता है। पहले दोनों सैनिक मारे गए और फिर दोनों सेनापति। दोनों के बंस में कोई रोने वाला न रह गया। हर लड़ाई का परिणाम यही होता है तिलोका, वह बुरी चीज़ है। तुम दोनों संधि कर लो....।"[14] उक्त पंक्तियों में लेखक ने लड़ाई-झगड़े के बुरे परिणाम के बारे में चर्चा की है और दोनों को संधि करने के लिए कहा है। यह संधि यहाँ शांति का प्रतीक है। दूसरी ओर अन्य पंक्ति में अशांति को कुछ इस प्रकार दर्शाया गया है- "दुनिया इन्हीं मूर्खों से भरी पड़ी है, तिल्लो। 'पर तू भी तो कहता है कि गोरों से जाकर हम लोग लड़ेंगे।' 'हाँ तिल्लो, हम लड़ेंगे, जरूर लड़ेंगे। तब तक लड़ेंगे जब तक हममें से एक भी जिंदा है।' सुलक जोश में आ गया था- 'हम इसलिए लड़ेंगे तिलोका, क्योंकि हमें अपनी रक्षा करनी है। गोरे हमपर छिपकर तीर चला रहे हैं। वह कायरों का काम है। हम तो खुलकर उनपर तीर छोड़ेंगे। कहेंगे, सामने आओ और वीरों की तरह लड़ो।"[15] लेखक ने यहाँ अंग्रेजी सत्ता के प्रति आदिवासी समाज की अशांति को दर्शाया है जो उस सत्ता के छल-कपट से पीड़ित और ग्रसित हैं जिस कारण उनको अपने जंगलों में अजनबियों की तरह जीवन यापन करना पड़ रहा है और वे लोग निरंतर उनसे उनके जंगल और अधिकार छीन रहे हैं।

निष्कर्षतः कह सकते हैं प्रस्तुत उपन्यास जंगल के फूल में वर्णित आदिवासी जीवन के संस्कारों, संस्कृति और समाज में मानवीय मूल्यों का चित्रण देखने को मिलता है। मूल्य मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने और एक करने की कड़ी का काम करते हैं किन्तु वर्तमान समय में एक मनुष्य ही मनुष्य के उन मूल्यों का हनन करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। मनुष्य के ऐसे ही मूल्यों का बोध जंगल के फूल उपन्यास में देखने को मिलता है। जंगल के फूल में चित्रित

आदिवासी मनुष्य के मूल्य मुख्यधारा के मनुष्य से कभी भिन्न तो कभी समान प्रतीत होते हैं परंतु यह समाज उपन्यास में अपने मूल्यों के लिए संघर्ष करता प्रतीत होता है। यह संघर्ष उसका कहीं अंग्रेजी शासन के प्रति रहा तो कहीं अपने ही समाज की रूढ़ियों के कारण शोषित होते मनुष्य का रहा। प्रस्तुत उपन्यास में अभिव्यक्त समाज में संस्कृति, संस्कारों और रीति-रिवाजों आदि में निहित मानवीय मूल्य, प्रेम, सत्य, अहिंसा, दया और शांति हैं। ये मूल्य इस उपन्यास में सबसे प्रासंगिक विषय हैं जो कभी सकारात्मक तो कभी नकारात्मक रूप चित्रित करता है। अतः मूल्यों की दृष्टि से यह उपन्यास अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

संदर्भ सूची-

1. राजपाल, डॉ. हुकुमचंद. (2015). समकालीन कविता में मानवीय मूल्य. नई दिल्ली: शारदा प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 17
2. भारती, डॉ. धर्मवीर. (2019). मानव मूल्य और साहित्य. नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ- पृष्ठ संख्या-18
3. फ्राम, एरिक, धीर, अनु. (2010). युगांक, प्रेम का वास्तविक अर्थ. मेंरठ: संवाद प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 99
4. अवस्थी, राजेन्द्र. (2019) जंगल के फूल. नई दिल्ली: राजपाल एंड संस. पृष्ठ संख्या- 152
5. अवस्थी, राजेन्द्र. (2019) जंगल के फूल. नई दिल्ली: राजपाल एंड संस. पृष्ठ संख्या- 16
6. शर्मा, रामविलास. (1999). भारतीय संस्कृति और हिन्दी-प्रदेश. नई दिल्ली: किताबघर प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 461
7. शर्मा, रामविलास. (1999). भारतीय संस्कृति और हिन्दी-प्रदेश. नई दिल्ली: किताबघर प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 461
8. अवस्थी, राजेन्द्र. (2019) जंगल के फूल. नई दिल्ली: राजपाल एंड संस. पृष्ठ संख्या- 15
9. अवस्थी, राजेन्द्र. (2019) जंगल के फूल. नई दिल्ली: राजपाल एंड संस. पृष्ठ संख्या- 69
10. शर्मा, रामविलास. (1999). भारतीय संस्कृति और हिन्दी-प्रदेश. नई दिल्ली: किताबघर प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 472
11. अवस्थी, राजेन्द्र. (2019) जंगल के फूल. नई दिल्ली: राजपाल एंड संस. पृष्ठ संख्या- 63
12. अवस्थी, राजेन्द्र. (2019) जंगल के फूल. नई दिल्ली: राजपाल एंड संस. पृष्ठ संख्या- 63
13. शर्मा, रामविलास. (1999). भारतीय संस्कृति और हिन्दी-प्रदेश. नई दिल्ली: किताबघर प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 472
14. अवस्थी, राजेन्द्र. (2019) जंगल के फूल. नई दिल्ली: राजपाल एंड संस. पृष्ठ संख्या- 169
15. अवस्थी, राजेन्द्र. (2019) जंगल के फूल. नई दिल्ली: राजपाल एंड संस. पृष्ठ संख्या- 169

डॉ. सिम्मी चौहान
असिस्टेंट प्रोफेसर (अतिथि पद), हिंदी
स्वामी श्रद्धानंद महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय उपमहाद्वीप में सूफीवाद , कव्वाली और कव्वालों की वर्तमान स्थिति

11वीं से 18वीं शताब्दी का समय मध्यकाल माना गया हैं। इस दौर में मुसलमान शासकों ने भारत पर पूरी तरह से अपना वर्चस्व कायम कर लिया था। उनके आगमन के साथ आई उनकी संस्कृति (ईरानी व अरबी-फ़ारसी) का भारतीय संस्कृति पर बहुत प्रभाव पड़ा। इसी काल में गीत, गज़ल, ख्याल, कव्वाली, ध्रुवपद, धमार, पद, कीर्तन, भजन आदि गायन विधाओं का भी विकास हुआ। प्रस्तुत शोध आलेख इन गायन शैलियों में 'कव्वाली' पर केन्द्रित है उस पर विस्तार से चर्चा करने से पहले यह जानना जरूरी है कि सूफीवाद के क्या मायने है? सूफीवाद में संगीत की क्या भूमिका है? सूफीवाद दो शब्दों से मिलकर बना है- 'सूफी' और 'वाद'। 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार मिलते हैं। 'सफा', 'अहले सफ्फा', 'सफ', 'सूफा', 'श्यो सूफिया', 'सूफ' आदि। **श्यामसुंदर दास** ने 'हिन्दी शब्दसागर में लिखा है कि- सूफी मुसलमानों का एक धार्मिक संप्रदाय है। इस संप्रदाय के लोग एक ईश्वर को मानने वाले होते है। वे ऊनी वस्त्र पहनने वाले, साफ़, पवित्र, निरपराध, निर्दोष व्यक्तित्व के होते हैं।[1] इसी तरह **कान्ह सिंह नाभा** ने 'महान कोष गुरशब्द रत्नाकर' में सूफी शब्द का अर्थ पवित्रता एवं ऊन माना है, जो कम्बल व कम्बल की खफनी पहने वह सूफी कहलाता हैं।[2] अबू-नसर-अल-सर्राज़ ने 'किताब-अल-लुमा' में कहा है कि 'सूफी' शब्द अरबी के 'सूफ' शब्द से निकला है जिसका अर्थ है – ऊन। ऊन का प्रयोग पैगम्बर, संत, साधक करते आए है।[3] अर्थात् सूफी वे साधक है जो ऊनी चोगे का व्यवहार करते है और परम-प्रियतम के रूप में परमात्मा की उपासना करना ही उनके जीवन का लक्ष्य होता हैं।[4]

सूफी शब्द के बाद 'वाद' शब्द की उत्पत्ति 'वद' धातु से हुई जिसका अर्थ है – कहना, बोलना, बताना आदि। अर्थात् सूफियों द्वारा बताया व अपनाया गया मार्ग ही सूफीवाद है। भारत में सूफीवाद को स्थापित करने का श्रेय सूफी संत ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती को है। 12वीं सदी में वे अफगानिस्तान से भारत आए और प्रेम की भावना को विकसित कर हिन्दू-मुस्लिमों के बीच एकता कायम करने का प्रयास किया। इन्होंने 'इश्क मिज़ाजी' (लौकिक प्रेम) से 'इश्क हकीकी' (अलौकिक प्रेम) तक ले जाने का पवित्र और सरल मार्ग बताया जो व्यक्ति को सीधा उसके ईश्वर अल्लाह से जोड़ने का कार्य करता हैं। इस मार्ग में ईश्वर तक पहुँचने और उसके साथ तारतम्य स्थापित करने के लिए साधक संगीत, नृत्य, आदि साधनों का चयन करता हैं। सूफीवाद इस्लाम धर्म से निकला लेकिन इस्लाम में सूफीवाद और संगीत को लेकर काफी भिन्नताएँ मिलती हैं। सूफी सम्प्रदाय की कई शाखाएँ है जिन्हें 'तरीका' भी कहा जाता है, उनमें संगीत के प्रति दो अवधारणाएं मुख्य रूप से दिखाई देती है – पहली, में 'नक्शबंदी' एवं 'कादरी' तरीके आते हैं। ये संगीत के पुरजोर विरोधी रहे। इनका मानना है कि संगीत इस्लामिक कर्तव्यों में बाधा उत्पन्न करता है, व्यक्ति अपने धर्म से भटक जाता हैं। दूसरी, अवधारणा में 'मेंवलेवी' एवं 'चिश्ती' तरीके आते है, जो संगीत के समर्थक हैं। इनके लिए ईश्वर की इबादत के लिए संगीत ही एक ऐसा तरीका

है जिसके द्वारा साधक अपने खुदा की सत्ता में लीन हो सकता हैं। इस दूसरी अवधारणा के विषय में **गुरदयाल सिंह ढिल्लो** ने कहा है कि- "ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने संगीत को रूह की खुराक कहा है। ...इस सम्प्रदाय में समाअ (संगीत) पर बड़ा जोर दिया गया है। इस सम्प्रदाय के साधकों के अनुसार संगीत दिल को गर्माता है तथा अल्लाह की प्रेम ज्योति को साधक के मन में प्रज्वलित करता है।"[5]

मध्यकाल में भक्त संतों (चैतन्य, कबीर, तुलसी, मीरा, सूरदास आदि) ने भजन, कीर्तन, प्रार्थना, गायन-वादन, नृत्य को विशेष स्थान दिया। संगीत अल्लाह को जानने, पहचानने व उसमें लीन हो जाने का माध्यम माना और सूफी परम्परा के अंतर्गत फकीरों की खानगाहों तथा मजारों पर 'सोज़' तथा 'समा' की परम्परा विकसित हुई। सूफी संगीत में भक्ति संगीत के लिए 'समा' शब्द का प्रयोग मिलता है। समा अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है- पढ़ना, गाना। आरम्भ में सूफी एक जगह जमा हो जाते थे और सामूहिक रूप से ईश्वर के नामों का जाप करते थे। जिसे मंडलियों द्वारा गाया जाता था उसे महफिलें समा कहते थे तथा उन मंडलियों में गाने वालों को मुगन्नी, मुतरिब व गोयन्दा कहते थे। 'समा' में गाए जाने वाली गायन शैलियाँ तत्कालीन गायन के मूल प्राण प्रबंध गायन प्रणाली को नहीं समझ सकी जिससे उन्हें भारतीय संगीत की स्वरावलियों ने उन्हें आकर्षित किया। इसी कारण उन्होंने अरबी, फ़ारसी दोनों का सम्मिश्रण कर कौल, कल्बाना, नक्श-गुल, कव्वाली, गज़ल, काफी, तराना आदि गायन विधाओं का चित्रण किया।

भारतीय उपमहाद्वीप में सूफीवाद और सूफी परम्परा के भक्ति संगीत की एक धारा के रूप में **'कव्वाली'** उभर कर सामने आई। 8वीं सदी में ईरान और अफगानिस्तान में दस्तक देने वाली इस अद्भुत् विधा को सूफी संत ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती ने अजमेर में संवत गान के रूप में ग़ज़ल और रुबाइयों का प्रयोग कव्वाली पद्धति में किया। उन्होंने अजमेंर की परम्परागत लोकधुनों को अपने कव्वालों को आत्मसात करने को कहा और यही से कव्वाली गीत शैली का परिमार्जन हुआ। इसी श्रृंखला में चिश्ती संत शेख निजामुद्दीन औलिया और अमीर खुसरो ने भारतीय संगीत और लोक भाषाओं का समायोजन करके कव्वाली को अपने समय की एक लोकप्रिय और विकसित विधा के रूप में स्थापित किया। सूफी धर्म के अनुसार 'कव्वाली' के आध्यामिक पक्ष में 'कल्ब' आत्मा की वह उच्चतम स्थिति है जो रूह और नक्स के बीच स्थित बुद्धि से जुड़ी है। कल्ब के प्रति समर्पण की भावना ने 'कौल' को जन्म दिया और कौल गाने वाले ही कव्वाल कहलाए। कव्वाली के काव्य प्रकारों में- कौल या तसव्वुक की ग़ज़लें, मुखम्मस, मुसल्लस , मुरब्बा मुसनबी आदि का प्रयोग होता है, कव्वाली के आरंभ में 'चादर' गाई जाती है फिर 'कौल' और अंत में 'रंग' गाया जाता है। कव्वाली में सूफी दर्शन, खुदारसूल की तारीफ़, वसूदों शरीफ द्वारा मालिक से इल्तज़ा, हुस्नों इश्क की रंगीनियत भरी शोखी, जश्न व महफिलों के मसले आदि शामिल होते हैं। सूफी 'परमात्मा' को अपना महबूब मानते है और हर वक्त उसी से मिलन के लिए आकुल रहते हैं। हजरत निजामुद्दीन औलिया और अमीर खुसरो का मानना है कि अपने भीतर का अंहकार खत्म किए बिना न तो सांसरिक प्रेमी को पाया जा सकता है और न ही रूहानी प्रेमी यानी परमात्मा को। कव्वाली 'परमात्मा' से बंदे का संबंध जोड़ती है। वे ईश्वर को पाने की लालसा में 'कव्वाली' गाते हैं। किसी सूफी संत के देहांत पर भी कव्वाली गायी जाती है साथ ही उनके मृत्यु दिवस को **'उर्स'** का नाम दिया जाता हैं। 'उर्स' के बिना कव्वाली अधूरी है। उर्स का

सबसे महत्त्वपूर्ण काम ही कव्वाली गा-गाकर उस परमात्मा को याद करते हुए अपने स्वर्गवासी गुरुओं व संतों के लिए प्रार्थना करना है कि वे परलोक में उस परमात्मा रूपी प्रेमी के सुकून से रहें। अमीर खुसरो की मशहूर कव्वाली- **"आज रंग है ऐ माँ रंग है री, मोरे महबूब के घर रंग है री।"** यह विशेष रूप से उर्स पर ही गाई जाती है। आज भी दिल्ली में स्थित हजरत निजामुद्दीन दरगाह पर यह कव्वाली सुनने को मिल जाती है।

कव्वाली में तान, पलटा, जमजमा, बोलबाट आदि वाद्ययंत्रों का प्रयोग किया जाता हैं। इसमें नक्श, दादरा, गजल, हम्द, नात, कसीदा, रुबाई, दोहा, कल्बाना, गल आदि का प्रचार और विकास समय-समय पर मुसलमान गायकों द्वारा किया जाता रहा। प्रारम्भ में 'कव्वाली' में ईश्वर व गुरु की वन्दना की जाती थी और उसमें केवल एक डफ पर ही सूफी नृत्य करते थे। विभिन्न वाद्ययंत्रों के साथ कव्वाली गाने का रिवाज़ अमीर खुसरो ने प्रारंभ किया। कव्वाली मुख्यतः एक प्रमुख गायक और सहगान के साथ आह्वान और प्रतिक्रिया शैली में गाई जाती है। इन गायकों को ढोलक, तबला, सितार बजाने वाले कलाकारों द्वारा समर्थित किया जाता है। आधुनिक समय में 'सितार' की जगह 'हारमोनियम' ने ले लिया है। सूफी गायकों को वाद्ययंत्रों की ताल के साथ-साथ रागों व लय का भी भरपूर ज्ञान था। साथ ही हाथ से ताली की तालबद्ध थाप उनकी कव्वाली को चार चाँद लगा देती है। यह सब दर्शकों को कव्वालों के सुरों से संलग्न कर एक आध्यात्मिक आलम में बाँध देता हैं। कव्वाली मात्र दर्शकों के मनोरंजन के लिए नहीं है, यह बात अलग है कि वर्तमान समय में यह मात्र मनोरंजन और व्यवसाय तक ही सिमट गई है। कव्वाली को अमीर खुसरो, बाबा फरीद, बुल्ले शाह, ख्वाजा गुलाम फरीद, वारिस शाह, नुसरत फतेह अली खां, साबरी बन्धु, बद्र अली खां, राहत फतेह अली खां, अमजद साबरी, निजामी बन्धु आदि ने अपने अंदाज और गायकी से जन-जन तक को रूबरू कराया हैं। आज कव्वाली गायन शैली न केवल संगीत बल्कि हमारी भारतीय संस्कृति का भी अटूट अंग बन गयी हैं।

1925 में कव्वाली का संबंध नई तकनीक से जुड़ना आरंभ हुआ। अपने समय के मशहूर **कालू कव्वाल** ने कोलकता में अपनी आवाज़ ग्रामोफोन पर रिकार्ड की। इस नए प्रयोग को उस दौर के कई कव्वालों ने आगे बढ़ाया, जिनमें स्वालेह मुहम्मद शेख लाल, रघुनाथ यादव, अब्दुल रज़ाक, मुहम्मद बशीर, अजीम प्रेम रागी, शहाबुद्दीन चाऊस, इस्माइल आजाद की कव्वालियाँ बहुत लोकप्रिय हुई। इस्माइल आजाद की **'हाजी मलंग दूल्हा, पहाड़ी से तेरा झूला .....'**, जॉनी बाबू कव्वाल की **'दमादम मस्त कलंदर'**, अजीज नाजां की **'गुरु ख्वाज़ा मैं तोरी गली आई'**, हाथरस के मशहूर कव्वाल शंकर-शंभू की जोड़ी ने **'महबूब किबरिया से मेरा सलाम कहना'** आदि कव्वालियों ने श्रोताओं के मन में एक ख़ास जगह इख्तियार की। इसके बाद कव्वाली के क्षेत्र में कव्वालों ने जोड़ियों में कव्वालियाँ प्रस्तुत की। इस श्रृंखला में वारसी और साबरी बन्धुओं की **'छाप तिलक सब छीनी रे मौसे नैना मिलाय के', 'दमादम मस्त कलंदर'** आदि कव्वालियों को इन जोड़ियों ने एक अलग पहचान दी। भूमंडलीकरण के इस दौर में 'कव्वाली' की मुख्यतः दो धाराएँ दिखाई देती है- एक, पारंपरिक और दूसरी फ़िल्मी। 1944 में पहली बार फिल्म नाइट बर्ड के गानों में कव्वाली का अंदाज देखा जा सकता हैं। लेकिन फिल्मों में कव्वाली उसकी कहानी को मद्देनजर रख कर तैयार की जाती हैं। फिल्मों में पहले पहल तो कव्वाली को मुकाबले के रूप में प्रस्तुत किया गया। बरसात की रात, उस्तादों के उस्ताद, दिल ही तो है, निकाह,

मुगल- ए- आज़म आदि फ़िल्में इसके प्रमुख उदाहरण हैं। यह मुकाबला पारंपरिक कव्वालियों में निषेध माना गया है क्योंकि अपने खुदा व गुरु के प्रति इसमें एक अदब, लिहाज़ तथा दायरा होता है जिसे मुकाबले के द्वारा नहीं पाया जा सकता। भारतीय शास्त्रीय संगीत ने पारंपरिक कव्वाली प्रदर्शनों की संरचनात्मक अखंडता में योगदान दिया है। एक विशिष्ट गाने के लिए उसमें एक विशेष प्रभावी राग में आलाप का उपयोग करके आरंभ होता है। उसके बाद एक कविता या पाठ सुनाया जाता है, फिर कव्वाली शुरू होती है। इसे मुख्यतः आठ मात्राओं के ताल कहरवा तथा छ: मात्राओं के ताल दादरा में गाया जाता है। आज कल कव्वाली प्रस्तुतिकरण के लिए जहाँ एक ओर भव्य मंच सज्जा, भारी भरकम आवाज़ वाले लाउडस्पीकर, भड़कीली वेशभूषा-रंगों-साज आयोजित होती है। वही दूसरी ओर कव्वाली के लिए शास्त्रीय संगीत में पॉप म्यूजिक का फ्यूज़न मिला कर उसे बेहद साधारण तरीके से प्रस्तुत किया जाता हैं। उदाहरण के तौर पर 'कोक स्टूडियो' में गाई जाने वाली कव्वालियों में पाकिस्तान के गीतों में कव्वाली, पंजाबी भाषा में गाई जाने वाली कव्वालियों में पश्चिमी संगीत का मिश्रण देखा जा सकता है और इसे युवा पीढ़ी द्वारा बहुत पसंद किया जा रहा हैं। इस कला में आबिदा परवीन, फरीद अयाज़, राहत फतेह अली खान, कैलाश खेर, निज़ामी बन्धु, अली अजमत, रिआज़ कादरी, गुलाम अली कादरी, अबु मोहम्मद, सिराज़ उप्पल, रफ़ाक़त अली खान आदि कव्वालों ने कव्वाली विधा के सत्व को बनाए रखते हुए एक नए तर्ज पर पेश कर अन्तराष्ट्रीय फलक पर पहुँचाया हैं। यूरोपीयन संस्कृति आज बेशक सूफी साहित्य और संगीत से वाकिफ़ न हो, लेकिन वे भी इस फ्यूज़न कव्वाली के बोलो पर झूमते नजर आते हैं। इस सन्दर्भ में उस्ताद नुसरत फतेह अली खां के भतीजे और मशहूर कव्वाल मुअज्जम अली खां ने एक इंटरव्यू में बताया कि , "आज लोग भारी संगीत सुनना पसंद करने लगे हैं। इस वजह में हमने कुछ वाद्य इसमें जोड़े हैं। अपने लाइव शोज में हम इनको इस तरह से मिक्स करते हैं कि कव्वाली भी रहे और संगीत का कुछ अलग फ्यूज़न भी इसमें हो। मुझे लगता है इस तरह से भी कव्वाली के जरिए अल्लाह का जो मैसेज सुनने वालों तक पहुँचाया जाता है, वह तो रहेगा ही। मगर एक नया बदलाव भी लोगों को पसंद आएगा।"[6] बालीवुड जगत में सूफी गायकों ने फ्यूज़न के साथ साथ इबादत के रूप में भी कव्वाली को फिल्मों में प्रस्तुत किया है। जिनमें अमर अकबर एंथनी, साजन की सहेली, कच्चे-धागे, हल्ला बोल, वीर-ज़ारा, बजरंगी भाईजान आदि फिल्मों में सूफी संगीत की विधा कव्वाली को खुदा में लीन होने के लिए प्रस्तुत किया गया हैं। हिंदी फिल्मों ने भी सूफी कव्वाल गायकों को एक पहचान दी हैं। लेकिन पाश्चात्य संस्कृति को खान-पान की तरह अपनाने वाली ये पीढ़ी एक ओर इन सूफी धुनों पर मदमस्त होकर झूमती है वही धीरे-धीरे इन्हें अपनी संस्कृति से नकारती भी जा रही हैं।

इतने पर भी धार्मिक संगीत और कव्वाली के प्रति उदासीनता बढ़ती जा रही हैं। खुदा की प्रीति में लीन हो जाने के लिए जहाँ पहले मधुर राग-सुर और समर्पण का भाव ही सर्वोपरि था, आज वहाँ पेशेवर कव्वालों के सामने कई समस्याएँ मुंह बाये खड़ी हैं। कव्वाली के लिए आयोजित किए जाने वाले आयोजन की संख्या निरंतर घटती जा रही हैं क्योंकि आयोजनों के लिए प्रशासनिक अनुमतियाँ, सुरक्षा, मंच, गेस्ट, आदि के लिए मोटी रकम की आवश्यकता पड़ती है साथ ही कुछ पेशेवर कव्वालों की फ़ीस भी इतनी ज्यादा होती है कि इबादत के इस संगीत का मूल ही खो जाता है।

इसके आलावा कव्वाली की कला पर आतंकवाद और चरमपंथियों का भी बुरा प्रभाव पड़ा हैं। पाकिस्तान, कराची और इस्लामाबाद में आतंकी हमलों के कारण कव्वालों ने आयोजित कव्वालियों में और दरगाहों पर होने वाली कव्वालियों में हिस्सेदारी कम कर दी हैं। इतना ही नही कव्वालों को सरे आम गोलियों का निशाना बना दिया जाता हैं। समाज में निरंतर बढ़ता अमीरी-गरीबी के फासले ने भी इस विधा को कमजोर किया हैं। दिल्ली, पंजाब, मुबंई, कोलकता, लाहौर आदि कही के भी कव्वालों को देख लीजिए, सभी जगह एक वर्ग विभाजन नजर आता हैं। वर्तमान दौर में रोजगार की समस्या प्रत्येक क्षेत्र में दिखाई देती हैं। बड़े-बड़े घरानों के शागिर्दों तक को अपने हुनर पेशेगी के लिए ऐड़ी चोटी का ज़ोर लगाना पड़ता हैं। ऐसे में इस विधा और इसे अपने जहन में जिंदा रखने वाले कव्वालो के सामने कड़ी चुनौतियां आ खड़ी होती हैं कि कैसे वे मात्र इबादत के संगीत को गा-गाकर अपना अस्तित्व कायम रख सकते हैं। व्यवसाय का रूप लेता शास्त्रीय संगीत और उसकी विधाएं आज फ्यूज़न की तारों के साथ मिलकर अपने नए स्वरूप को खड़ा कर रही हैं।

मार्च से जून का महीना कव्वालों के लिए बेहद व्यस्त महीना होता हैं। 'रमजान' के दिनों में होने वाले इबादत संगीत में कव्वाली का प्रमुख स्थान हैं। लेकिन कोविड-19 महामारी ने आज कव्वालों को घरों की चारदीवारी में कैद कर दिया हैं। ऐसे में उनके सामने रोज़ी-रोटी भी एक बड़ी समस्या बन कर खड़ी हुई है साथ ही रियाज़ की एक कला पर ताला-सा पड़ गया हैं। अमीर खुसरों ने कव्वाली की जिस समिश्रित परम्परा को शुरू किया था उसे जानने वालो में युवा पीढ़ी का एक वर्ग जरा लड़खड़ाता-सा दिखाई देता हैं। हिंदी पढ़ने वाले छात्रों में जब अमीर खुसरो की मुकरियां पढ़ाई जाती है तो वहां भी कई बच्चे ऐसे मिल जाते है जिन्होंने खुसरो, बुल्ले शाह का कभी नाम भी सुना नहीं होता। इस त्रासद स्थिति में ऐसी युवा पीढ़ी से कव्वाली और कव्वालों की कला में रूचि की अपेक्षा व्यर्थ हैं। आज धीरे धीरे कव्वाली के घराने और उनमें कला के पारखी गुरुवर ही खत्म होते जा रहे है ऐसे में कव्वालों की शिक्षा पर भी एक बड़ा प्रश्नचिह्न लग जाता हैं। व्यवसाय ने कव्वाली को दरगाहों, सूफी आयोजनों और फिल्मों में अभी जिन्दा रखा हुआ हैं अन्यथा इस विधा को जिस इबादत रूप में विकसित किया गया था उसमें आज कई बदलाव कर दिए गए हैं। परिवर्तन के इस दौर में फ्यूजन और रैप म्यूजिक के साथ ही आज कव्वाली भी अपना नया स्थान निर्मित कर रही हैं।

संदर्भ सूची-

1. श्यामसुंदर दास- हिन्दी शब्दसागर. पृष्ठ संख्या- 7052
2. कान्ह सिंह नाभा- महान कोष गुरशब्द रत्नाकर. पृष्ठ संख्या- 116
3. रेनू सचदेवा- धार्मिक परम्परा एवं हिन्दुस्तानी संगीत. पृष्ठ संख्या- 100
4. रामपूजन तिवारी- सूफीमत साधना व साहित्य. पृष्ठ संख्या- 170
5. गुरदयाल सिंह ढिल्लो- शाह हुसैन : दर्शन साधना अते कला. पृष्ठ संख्या- 20-21
6. आउटलुक पत्रिका, (ऑनलाइन). 4 दिसम्बर 2017

अनुज कुमार
शोधार्थी, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
संपर्क सूत्र: 7982232667
ईमेंल पता : Anujk401@gmail.com

आदिवासी केन्द्रित समकालीन हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त आर्थिक संघर्ष

शोध सार : विकास की अवधारणा सभ्य समाज की स्वार्थगत नीतियों पर टिकी है जिसमें वह प्रकृति का मनचाहा दोहन करती है। इस दृष्टि से देखा जाए तो विकास के नाम पर पूंजीवादी व्यवस्था का सबसे अधिक प्रभाव आदिवासी जीवन पर पड़ा है। जिन ज़मीनों पर उनका अधिकार था, जो जंगल उनके घर थे वो सब उनसे छिन गए। इस कारण आदिवासी ठेकेदारों और भू-स्वामियों के बंधुआ मजदूर बनकर रहे गए। राष्ट्र विकास के नाम पर आदिवासी हितों को कुचला गया। पंचवर्षीय योजनाओं में जो विकास का मॉडल प्रस्तुत किया गया उससे आदिवासी समाज को विस्थापन, बेरोजगारी, भुखमरी, अशिक्षा, वेश्यावृत्ति आदि के सिवाए मिला ही क्या है। आदिवासी जीवन को केंद्र में रखकर अनेक उपन्यास लिखे गए हैं जिनमें उनके जीवन के संघर्ष को कलमबद्ध किया गया है। हम यहाँ समकालीन हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त आदिवासी जीवन के आर्थिक पक्ष पर चर्चा करेंगे। साथ ही उन बिन्दुओं को भी रेखांकित करने का प्रयास करेंगे जिनसे आदिवासी समाज के भीतर एक विद्रोह की भावना पनप रही है।

बीज शब्द : आदिवासी, अर्थ, विद्रोह, संघर्ष, विस्थापन, वेश्यावृत्ति, भुखमरी, अशिक्षा।

आदिवासी शब्द 'आदि' और 'वासी' के संयोग से बना है जिसका अर्थ मूल निवासी होता है। इस दृष्टि से आदिवासी किसी भी देश के मूलनिवासी होते हैं। भारतीय संविधान में आदिवासियों के लिए अनुसूचित जनजाति पद का प्रयोग किया गया है। ये भारत की आबादी का लगभग 8.6% हिस्सा है जो कि एक निश्चित भू-भाग में संगठित रूप में रहते हैं। उनकी अपनी बोली और संस्कृति होती है। बहुत से आदिवासी समुदाय जंगलों में निवास करते हैं। सभ्य समाज से दूर आदिवासी समाज मूलभूत सुविधाओं से भी वंचित हैं। भूमंडलीकरण के दौर में अर्थ का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने मनुष्य की असीमित आवश्यकताओं को जन्म दिया है। आर्थिक आधार पर समाज को तीन भागों में विभाजित किया गया है- उच्च वर्ग, मध्य वर्ग, निम्न वर्ग। निम्न वर्ग के अंतर्गत आदिवासी समाज आता है जो कि अपना जीवन जीने के लिए निरंतर संघर्षरत है। भारत को आजाद हुए 75 वर्ष से ऊपर हो गए हैं किन्तु आदिवासी समाज की आर्थिक स्थिति दयनीय और सोचनीय बनी हुई है। रोटी, कपड़ा और मकान जैसी मूलभूत आवश्यकताएँ भी उस तक नहीं पहुँच पाई हैं। "सरकारों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, जमीन और जंगलों से आदिवासियों की बेदखली, उनकी सामुदायिक आर्थिक व्यवस्था का नाश आदि कारणों से आज भी आदिवासी पिछड़े हुए हैं।"[1] जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। आदिवासी समाज के जीविकोपार्जन का मुख्य साधन खेती रही है। वह इस दृष्टि से जंगलों पर निर्भर रहा है किन्तु विकास की आड़ में उन्हें जंगलों से खदेड़ दिया जाता है जिसके कारण उन्हें अपने और अपने परिवार का पेट भरने के लिए दर-दर भटकना पड़ता है। आर्थिक अभाव उनके सम्मुख काल के समान

खड़ा है जो उन्हें अपने भीतर समाने को आतुर है। उससे बचने के लिए आदिवासी समाज को अपनी जमीन छोड़कर विस्थापन का दंश झेलना पड़ता है। बेरोजगारी और भुखमरी के कारण भी उन्हें अपना घर छोड़ना पड़ता है। 'छैला संदु' उपन्यास में मंगल सिंह मुंडा ने इस करुण कथा का चित्रण कुछ इस प्रकार किया है- "यहाँ एक आदिवासी परिवार रहता है। घर-परिवार के हाव-भाव से आभास होता है कि यह परिवार जीविकोपार्जन की तलाश में भटकते-भटकते यहाँ आकर टिक गया है। इसका घर क्या है कि मात्र एक पड़ाव कहा जाए। अपने गुजारे की तलास में अपनी जान-माल की रक्षा हेतु भटकते एक इंसान का पड़ाव है।"[2]

आदिवासी समाज के आर्थिक अभाव का चित्रण मनमोहन पाठक ने अपने उपन्यास 'गगन घटा घहरानी' में बड़ी ही संजीदगी से किया है। इस उपन्यास में झारखंड के पलामू क्षेत्र में निवास करने वाले उराव आदिवासियों के जीवन का यथार्थ चित्रण किया गया है। आज हम एक तरफ तो उत्तर आधुनिकता के दौर में जी रहे हैं, विकास की नावों में सवार होकर जंगलों को काटकर मेट्रो, बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियाँ, पक्की सड़कें, मौल, आदि का निर्माण कर रहे हैं। वहीं दूसरी तरफ एक समाज ऐसा भी है जो इस विकास की चका-चौंद से इतना दूर है कि उसका प्रकाश वहाँ तक नहीं पहुँच पाता। वह तो अपना पेट भरने की जद्दोजहद में ही जीवन यापन कर रहा है। उसके लिए भूख का प्रश्न बड़ा है। आर्थिक रूप से कृषि पर निर्भर रहने वाले आदिवासियों को सूखा और अकाल के कारण अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अपनी भूख की आग मिटाने के लिए बंधुआ मजदूर बनना पड़ता है। आर्थिक संकट से जूझ रहे आदिवासियों की दयनीय स्थिति का जमींदार भी अपनी स्वार्थ सिद्धि हेतु लाभ उठाते हैं। इस तथ्य को उपन्यासकार मनमोहन पाठक ने उद्घाटित किया है। जब अकाल पड़ने के कारण खेत सूख जाते हैं, तो उपन्यास के पात्र चेतू और दगड़ू अपना खेत जमींदार रायसाहब के पास गिरवी रख देते हैं। जो उन्हें वापस नहीं मिल पाता। उनके लिए तो अभाव से उपजी दरिद्रता से ग्रसित ज़िंदगी का शोषण ही स्थायी भाव बन कर रह जाता है। श्री प्रकाश के उपन्यास 'जहां बांस फूलते हैं' में उत्तर-पूर्व मिजोरम में स्थित आदिवासी लुशेइओं के जीवन की त्रासदी को रेखांकित कर उनके आर्थिक अभाव के कारणों को उद्घाटित किया है। उपन्यास में मिजो मेहनत कर जंगल साफ कर धान लगाता है। किन्तु जब फसल बड़ी हो जाती है तो जमींदार उनकी फसल काट कर ले जाते हैं। उपन्यास में इस घटना का चित्रण कुछ इस प्रकार किया गया है- "भूख का मारा मिजो कुछेक वर्षों तक इंतजार करता था, फिर जंगल को साफ कर धान लगा जाता था, फसल जब तैयार होने को होती थी, तब अपना झोपड़ा बनाया जाता था। फिर एक दिन रात को इलाके के पुराने जमींदार रामनाथ लश्कर और मुश्ताक खांडकार अपने साथियों के साथ आ धमकते, इनके घरों को उजाड़ फसल काट कर ले जाते और खेती लायक जमीन दो-चार साल के लिए कब्जा कर लेते थे।"[3]

शासन की उपेक्षा का शिकार, आर्थिक अभाव से भरे जीवन और शोषण की मार झेलते आदिवासी जब कभी इसके विरुद्ध अपनी आवाज बुलंद कर अधिकारों की माँग करते हैं तो उन्हें नक्सली कह दिया जाता है। इस उपन्यास में आर्थिक विषमता के कारण उपजे आदिवासियों के आक्रोश को भी चित्रित किया गया है। अभावों से उपजे इस आक्रोश को हमें संवेदना की दृष्टि से देखना चाहिए। सन् 1958 में मिजोरम में पड़े आकाल से उपजी भूख से बिलबिलाते मिजो के लिए भारत सरकार द्वारा कोई ठोस कदम नहीं उठाए गए जिसके चलते वहाँ 1966 में लालडेड़ा के नेतृत्व में सरकार के विरुद्ध मोर्चा खोल दिया था। आर्थिक विषमता से जूझ रहे आदिवासियों को सचेत करते हुए लालडेड़ा उपन्यास में एक स्थान पर कहता है- "मिजो बंधुओं ! बहुत दिनों से ये धनी लोग, ये वाई लोग लोगों का सुख अपनी तिजोरियों में कैद रख चुके हैं। गरीबों का आहार उनके गोदामों में मूल्यवृद्धि की प्रतीक्षा करते-करते सड़ रहा है। समय आ गया है कि वे अब अपनी तिजोरियों और गोदामों में महरूम हों। उनकी

अट्टालिकाओं को गिरा दिया जाए और सारे वित को इन धरती के बेटों- इन झुके लोगों में बाँट दिया जाए। समय आ गया है कि लुशाई हिल्स के सपूत उठें और इस निहंग धरती का भाग्य बादल दें।"[4] तेजिंदर ने अपने उपन्यास 'काला पादरी' में मध्यप्रदेश की उरांव जनजाति की आर्थिक विपन्नता का चित्र उकेरा है जिसमें भूख की तड़प जान लेने को उतारु है। यह बड़ी दुख की बात है कि आजादी के 75 साल बाद भी हमारे देश में एक ऐसा समाज है जो भूख के कारण अपनी जान गवा रहा है। शासन तंत्र विकास की आड़ में आदिवासियों को जंगलों से दूर कर रहा है। साथ ही उनके साथ अमानवीय व्यवहार करने पर उतारू है। आदिवासियों की समस्याओं को समझकर उनके लिए शिक्षा और रोजगार को मुहैया कराना जरूरी है जिससे वे भी मानवीय जीवन जी सके और देश की प्रगति में अपना योगदान दे पाएँ। 'काला पादरी' उपन्यास में आदिवासियों की दर्दनाक स्थिति और भूख का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया गया है। वे जंगलों की जहरीली जड़ी बूटियों के साथ बिल्ली और बंदरों का माँस खा रहे हैं। थाने में दर्ज रिपोर्ट में बताया जाता है कि- "इस क्षेत्र के आदिवासी पिछले कई दिनों से जहरीली जंगली बूटियाँ खा रहे हैं और जिले के भित्री इलाकों में तो कुछ लोग अपनी भूख मिटाने के लिए बिल्लियों और बंदरों का शिकार कर उनका माँस खा रहे हैं।"[5] अकाल पड़ने के कारण आदिवासियों की स्थिति अत्यंत दयनीय हो गई है। भूख के कारण एक आदिवासी स्त्री और उसके दो बच्चे मर जाते हैं जिसे उपन्यासकार ने कुछ इस प्रकार चित्रित किया है- "साहब रात में बच्चा मर गया। उसकी माँ ने कई दिनों से कुछ खाया नहीं था। उसको गोद में लेकर उसकी माँ भी मर गई। उसने भी कई दिनों से कुछ खाया नहीं था।"[6] यह आदिवासी जीवन का यथार्थ है जिसमें भूख, अभाव और दारिद्र्य स्पष्टता से लक्षित होता है। "वास्तव में 'काला पादरी' उपन्यास में भारत के सर्वाधिक उत्पीड़ित व उपेक्षित आदिवासियों की जीवन स्थितियों के अनेक पहलुओं को लेखक ने समाजशास्त्रीय दृष्टि, किन्तु साथ ही लेखकीय संवेदना से इस ढंग से चित्रित किया है कि भारतीय समाज की जटिलता भी उभरकर सामने आती है और साथ ही आदिवासियों के जीवन की पीड़ा का मार्मिक अंकन भी लेखक की कलम से होता है।"[7]

इस उपन्यास के मूल में भूख की समस्या है जिसका चित्रण उपन्यासकार ने कुछ इस प्रकार किया है- "एक आदमी भूखा है और भूख की वजह से बीमार है। भूख एक, भूख दो, भूख तीन, भूख चार, भूख पाँच और भूख छह। उसने भूख छह तक का रिकॉर्ड बनाया है। एक ऐसा रिकॉर्ड जिसे दस्तावेजों में दर्ज करने वाला कोई नहीं। कोई गिनीज़ बुक ऑफ वर्ल्ड रिकॉर्ड नहीं, कोई लिम्का नहीं, कोई थम्स अप नहीं। इस तरह जब वह भूख छह तक पहुँच जाता है तो उसे लगता है कि बस अब इसके बाद और कुछ नहीं। लेकिन वह अपने आसपास बहुत सारे लोगों से घिरा है। वे उसे गाँव की चौपाल पर लिटा देते हैं। उसे अन्न की जरूरत है किन्तु अशिक्षा के कारण आदिवासी मानते हैं कि यह कोई भूत प्रेत का चक्कर है।"[8] भगवानदास मोरवाल का उपन्यास 'काला पहाड़' आदिवासी मेवातों के आर्थिक पिछड़ेपन को रेखांकित करता है। उपन्यास का कथ्य हरियाणा, उत्तर प्रदेश और राजस्थान की सीमा पर स्थित मेवात है। सरकार द्वारा समय-समय पर आदिवासियों के आर्थिक सुधार हेतु जो वायदे किए जाते हैं वो कभी पूरे नहीं हो पाते। उपन्यास में जब प्रधानमंत्री महूं नामक गांव में आते हैं जो कि काले पहाड़ की घाटी में बसा है तो वहां का सरपंच अपनी आर्थिक स्थिति को उद्घाटित करते हुए कहता है- "माननीय प्रधानमंत्री जी जैसा कि आप जानते हैं हमारा यह इलाका बेहद गरीब और पिछड़ा हुआ है। यहां पिछले कई सालों से न के बराबर बारिश हो रही है, जिसके कारण सारे जोहड़ और तालाब सूख चुके हैं। मटर, जौ, चना जैसी फसलें पैदा होनी बंद हो गई हैं। इसलिए इलाके की ओर से चौबीसी की पहली माँग यह है कि मेवात में सिंचाई की पर्याप्त सुविधाएं मुहैया कराई जाएं और बरसों से मंजूर 'मेवात नहर' का निर्माण जल्दी शुरू कराया जाए।"[9]

किंतु राजनेताओं द्वारा आदिवासियों के कल्याण के लिए जो घोषणा की जाती हैं वो सब खोखली हैं। न वहां स्कूल की स्थापना हो पाती है, न कोई अस्पताल बनता है, न ही रोजगार के लिए कुछ किया जाता है। इस दृष्टि से डॉ. कुंवर पाल सिंह की उपन्यास के संदर्भ में की गई टिप्पणी सटीक जान पड़ती है- "समूचा उपन्यास मानो इस 'भरोसा उठने' की प्रक्रिया को उद्घाटित करने का अथक प्रयास है। इस क्रम में लेखक राजनीति, सत्ता, अर्थव्यवस्था, विकास की प्रक्रिया को सभी को खंगालता है। और उनकी जिजीविषा तथा जीवट को भी रेखांकित करता है, जिन्हें निम्न जाति को और तिरस्कृत समझा जाता है।"[10]

आदिवासियों के शोषण के तरीकों में एक महाजनी शोषण है जिसमें आदिवासियों को मदद के नाम पर कर्जा दिया जाता है और फिर वह उससे वापस माँगा जाता है और न देने पर उनकी ज़मीनों को गिरवी रख लिया जाता है। इस संदर्भ में विनोद कुमार का उपन्यास 'समर शेष है' को देखा जा सकता है। इस उपन्यास में झारखंड के आदिवासियों पर हो रहे महाजनी शोषणा का यथार्थ अंकन हुआ है। आदिवासियों की ज़मीनों को हड़प कर उन्हें दाने दाने को मोहताज कर दिया जाता है। वे मात्र बंधुआ मजदूर ही बन कर रह जाते हैं। उपन्यास में महाजन बिष्टू आदिवासियों को कर्ज दे-दे कर धीरे-धीरे सारी ज़मीनों का मालिक बन बैठता है- "कौन सा गाँव ऐसा था, जहां उसके कर्जदार नहीं थे। उन गाँवों की बहुत सारी जमीन का मालिक दरअसल वही था।"[11] वेश्यावृत्ति जैसे कुकर्म करने पर भी आदिवासी स्त्रियाँ मजबूर हैं। आर्थिक अभाव उन्हें अपनी देह बेचने पर विवश कर देता है। कारखानों और खदानों में काम करती आदिवासी स्त्रियां वेश्यावृत्ति को अपना पेशा बना लेती हैं। 'समर शेष है' उपन्यास में हरेन्द्र मिश्र नामक पात्र आदिवासी महिला सावित्री को पैसा देकर शारीरिक संबंध स्थापित करता है। धीरे-धीरे यह प्रक्रिया उनकी आदत बन जाती है। पति के मना करने पर भी सावित्री बोलती है- "कुछ नहीं रखा इस फिजूल की बातों में... तुम क्या जानो... सब यही चाहते हैं हमसे...छोटे मालिक तो छोटे मालिक उनके सगे बाप को भी यह देह चाहिए और वह भी मुफ्त में...नहीं करनी मुझे अब ये बेगारी। मालिक से शरीर न नुचवाऊँ तो वे काम भी देंगे ? नहीं... कभी नहीं। उससे अच्छी है ये वेश्यावृत्ति। यह देखो पाँच-पाँच के तीन नोट दे गया है वह भला आदमी।"[12]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि समकालीन हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन के आर्थिक संघर्ष को उभारा गया है जिसमें सरकारी कारिंदे, पुलिस, जमींदार, ठेकेदार आदि सब मिलकर उनका शोषण करते हैं। उपन्यासकारों ने आदिवासी समाज का यथार्थ चित्रण कर उनकी जरूरतों को तथाकथित सभ्य समाज के सामने रखा है। इस प्रकार उन्होंने आदिवासी जीवन के संघर्ष और उनके भीतर उपजे आक्रोश के कारणों की पड़ताल कर संवेदना के धरातल पर व्यक्त किया है। आदिवासी समाज को लेखकों ने बड़ी ही संजीदगी से समझते हुए उनके आर्थिक शोषण को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है जो कि विमर्श की एक नयी जमीन तैयार करते हैं। आदिवासियों का जीवन जंगलों पर टिका है, किंतु भूमंडलीकरण और विकासवादी अवधारणा के तहत जंगल काटे जा रहे हैं। इस दृष्टि से सबसे अधिक आदिवासियों का जीवन प्रभावित हुआ है। जल, जंगल, जमीन से वंचित होते समाज में विद्रोह और आक्रोश की भावना पनप रही है जिसे सरकार तानाशाही ढ़ंग से कुचलने का प्रयास करती है। आज हमें उनकी जरूरतों को समझना होगा। साथ ही एक संवाद विकसित करना होगा जिसके चलते उनकी समस्याओं को समझकर उनका समाधान किया जा सके। साथ ही उन्हें भी रोटी, कपड़ा और मकान के साथ शिक्षा, रोजगार और स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया कराने का प्रयास करें जिससे कि उन्हें भी मुख्य धारा में शामिल किया जा सके।

संदर्भ सूची-

1. देबरे, शिवाजी. डॉ. तथा खराटे, मधु. डॉ. (2013). समकालीन हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श (भूमिका). कानपुर: विद्या प्रकाशन.
2. मुंडा, मंगल सिंह. (2004). छैला संदु. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन. पृष्ठ संख्या-18
3. मिश्र, श्री प्रकाश. (1997). जहां बांस फूलते हैं. नई दिल्ली: यश पब्लिकेशन्स. पृष्ठ संख्या- 69
4. मिश्र, श्री प्रकाश. (1997). जहां बांस फूलते हैं. नई दिल्ली: यश पब्लिकेशन्स. पृष्ठ संख्या- 5
5. तेजिंदर. (2005). काला पादरी. नई दिल्ली: नैशनल पेपर बैक्स. पृष्ठ संख्या- 21
6. तेजिंदर. (2005). काला पादरी. नई दिल्ली: नैशनल पेपर बैक्स. पृष्ठ संख्या- 21
7. चमनलाल, डॉ. (2012). दलित साहित्य : एक मूल्यांकन. नई दिल्ली: राजपाल एंड संस. पृष्ठ संख्या- 166
8. तेजिंदर. (2005). काला पादरी. नई दिल्ली : नैशनल पेपर बैक्स. पृष्ठ संख्या- 71
9. मोरवाल, भगवान दास, (1999), काला पहाड़, नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ संख्या- 18
10. कलासवा, बी.के. प्रो. (2009). हिंदी में आदिवासी जीवन केंद्रित उपन्यास का समीक्षात्मक अध्ययन. नई दिल्ली: मयूर प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 255
11. कुमार विनोद, (2005), समर शेष है, नई दिल्ली: प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 07
12. कुमार विनोद, (2005), समर शेष है, नई दिल्ली: प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 178

डॉ. नरेंद्र कुमार
राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
संपर्क सूत्र : 9910294285
ईमेंल पता : narender3225@gamil.com

भारतीय संविधान, जनजाति विकास और स्वशासन

संविधान में आदिवासी समुदाय मुख्य रूप से दो क्षेत्र में विभाजित हैं। एक, छठी अनुसूची के अंतर्गत आने वाले उत्तर-पूर्वी जनजाति बहुल राज्य असम, त्रिपुरा, मेघालय, मिजोरम आदि है। दूसरी ओर शेष भारत में अन्य जनजाति क्षेत्र जिसे पांचवी अनुसूचि में शामिल किया गया है। दोनों क्षेत्रों के जनजातियों की सामाजिक, आर्थिक और सजातीय विभिन्नता के कारण संविधान में इनके लिए अलग-अलग अनुसूची बनाई गई है। अन्य समुदाय से सामाजिक और सांस्कृतिक भिन्नता के कारण मुख्य समस्या उभरकर आ रही है कि इनके संस्कृतिक मूल्यों और अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करते हुए विकास का मुख्य भागीदार किस प्रकार बनाया जाए। इसके लिए विशेष रूप से तीन प्रकार के विचार प्रचलित थे। उदाहरण के तौर पर (1) इन्हें अलग कर रखना (2) समावेश करना और एकीकरण। स्वतन्त्रता पश्चात जनजाति समुदाय के अधिकारों और स्वशासन प्रदान करने के लिए कई प्रयास किए गए हैं। उदाहरण के तौर पर आदिवासियों के लिए भारत क प्रथम प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू का 'पंचशील सिद्धान्त 1956, इसके अलावा वर्ष 1974 का 'ट्राईबल सब प्लान' और 1996 में लागू किया गया 'पंचायत (अनुसूचित क्षेत्र विस्तार) अधिनियम 1996' (पेसा) कानून इत्यादि। इस तरह के कानूनी प्रावधान जनजाति विकास के लिए महत्त्वपूर्ण माने गए, परंतु क्या यह सब प्रावधान जनजाति अधिकारों को सुरक्षा प्रदान कर पा रहे है ? अत: इस लेख में यह समझने का प्रयास किया गया है कि स्वतंत्रता पश्चात जनजाति विकास और स्वशासन के लिए कौन से मुख्य प्रयास किए गए है। यह लेख कई भागो में विभाजित हैं। सबसे पहले पांचवी अनुसूची और पेसा कानून का संक्षेप में ऐतिहासिक वर्णन किया गया हैं। इसके पश्चात पेसा कानून, पांचवी अनुसूची के मुख्य प्रावधानों पर प्रकाश डाला गया है। इसके बाद इस लेख में यह समझने प्रयास किया है कि आदिवासी समूह पेसा कानून के स्थान पर अपने पुराने कानूनों की बहाली की माँग क्यों कर रहे हैं, जबकि आदिवासी समुदाय के अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए संविधान में पहले से ही कई मुख्य प्रावधान हैं।

संविधान और जनजातीय अधिकार

इसमें कोई संदेह नही है कि संविधान की पांचवी और छठी अनुसूची आदिवासी अधिकारों और सुरक्षा का गैर-आदिवासियों के शोषण से बचाव का व्यापक कवच है। संविधान में बताया गया है कि संघ की कार्यकारी शक्ति राष्ट्रपति (अनुछेद, 52(1) और राज्य की कार्यकारी शक्ति राज्यपाल अनुछेद, 154(1) में निहित होगी। (भारत का संविधान, 2011) इन दोनों ही राष्ट्र और राज्य प्रमुख को आदिवासी क्षेत्र में शान्ति

और स्वशासन के विशेष अधिकार सौंपे गए है। इस प्रकार अनुसूचित क्षेत्र के प्रशासन का उत्तरदायित्व इनके माध्यम से संघ और राज्य सरकार दोनों का है। संविधान में आदिवासी स्वशासन और स्वायत्ता के लिए राज्य के गवर्नर के पास विशेष अधिकार है। वह केन्द्र और राज्य सरकार के कानून अनुसूचित क्षेत्र में लागू होने से रोक सकता है या निर्देश दे सकता है कि इन्हें कुछ खास बदलाव के बाद ही लागू किया जाए। वहीं राष्ट्रपति राज्य सरकार को निर्देश दे सकता है कि वह अनुसूचित जनजाति के कल्याण के लिए खास प्रावधान का निर्माण करे। अनुसूचित क्षेत्र के संचालन में राज्य के गवर्नर के ऊपर इस संदर्भ में केवल दो बंदिशे है। एक, राज्यपाल जनजातियों के लिए कोई भी विनियम बनाने से पूर्व 'आदिवासी सलाहकार परिषद' की सलहा लेगा। दूसरा, सभी विनियम को चलन में लाने से पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजा जाएगा। (Kurup, 2014: 7-8) इस प्रकार के प्रावधान आदिवासी स्वशासन और स्वायत्ता को मजबूत औपचारिक बल प्रदान करते हैं। संविधान की पांचवी अनुसूची के पैरा 3 के अनुसार राज्यपाल के लिए अनिवार्य है कि पांचवी अनुसूची के अंतर्गत आने वाली जनजातियों के प्रशासन की वार्षिक रिपोर्ट अथवा जब कभी राष्ट्रपति इसे जरूरी समझे उनके समक्ष प्रस्तुत करनी होगी (Bodhi, 2013)। इस प्रकार संविधान की अनुसूची का मुख्य उदेश्य न केवल अनुसूचित जनजाति को गैर आदिवासी वर्गो के शोषण से बचना है, बल्कि राज्य के अनुचित कानूनों से भी सुरक्षा करना है ताकि इन्हें स्वशासन और स्वायत्ता इनके सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक मूल्यों के परिवेश में मिल सके। इन मुख्य प्रावधानों को बनाए रखते हुए 1996 में पांचवी अनुसूची क्षेत्र में पेसा कानून लागू किया गया। अनुच्छेद 244(1) के अंतर्गत संसद ने 73 और 74 वे संविधान संशोधन का विस्तार कर 1996 में पांचवी अनुसूची क्षेत्र में पेसा कानून लागू किया। पेसा कानून के लिए संघर्ष की शुरुआत बस्तर के जंगलों में 8 से 10 नवम्बर 1988 में ग्राम स्वराज सम्मेलन के दौरान हुई, आगे चलकर इस सम्मेलन के आधार पर 'भारत जन आन्दोलन' संगठित हुआ। यह आन्दोलन मुख्य रूप से आदिवासी क्षेत्र में अपना जीवन निर्वाह करने वाले लोगो का संगठित प्रयास था। (चौबे, 2013: 156) इस आन्दोलन का मुख्य प्रयास जंगलो में सरकार के द्वारा चलाई जा रही गतिविधि व विकास योजना के लिए आदिवासी समुदाय की सहमति को अनिवार्य करना था ताकि संसाधनो पर स्थानीय लोगो का अधिकार बना रहे। जून 1994 में दिलीप सिंह भूरिया की अध्यक्षता में सांसदों और विशेषज्ञों की एक 22 सदस्य समिति गठित की। इस समिति का काम पांचवी अनुसूची क्षेत्र में पंचायती व्यवस्था के लिए सुझाव देना था। इस समिति की सिफ़ारिश के आधार पर 24 दिसंबर 1996 में पांचवी अनुसूची के अंतर्गत आने वाले राज्यों में यह कानून (पेसा कानून) लागू कर दिया गया।

जनजाति विकास और स्वशासन के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव

आदिवासी स्वशासन को 'हमारे गांव में हमारा शासन' के संदर्भ में समझा जा सकता हैं। (Bodhi, 2013) संविधान निर्माता आदिवासी स्वशासन के इस विचार से भली-भाति परिचित थे। इसलिए संविधान में आदिवासी स्वशासन के उद्देश्यों को राजनीतिक पार्टियों की राजनीति से उच्च स्थान दिया गया है।

(Constitution Assembly Debates of the Fifth Scheduled) पांचवी अनुसूची के अंतर्गत संविधान में ऐसे प्रावधान किए हैं ताकि यह समुदाय अपने मूल रीतिरिवाजों के अनुसार जीवन जी सके, इसी अनुसूची में बिना कोई बदलाव किए 1996 में पेसा एक प्रगतिशील कानून के रूप में लागू किया गया। अतः आदिवासी जीवन में पांचवी अनुसूची और पेसा कानून की भूमिका इस प्रकार है-

पहला, संविधान की पांचवी अनुसूची के पैरा 3 में गवर्नर को स्पष्ट निर्देश दिया हैं कि अनुसूचित क्षेत्र की रिपोर्ट प्रति वर्ष या राष्ट्रपति जब कभी अपेक्षा करे। इस संबंध में राष्ट्रपति को प्रतिवेदन देना होगा। गवर्नर की रिपोर्ट के आधार पर राष्ट्रपति के पास अनुसूची क्षेत्र के संबंध में राज्य को विशेष निर्देश देने का अधिकार हैं। (Sharma, 2014: 44, बसु, 2013: 331) परंतु जबसे जनजाति क्षेत्र में पेसा कानून की शुरुआत हुई है, गवर्नर के रिपोर्ट भेजने की इस प्रक्रिया को अनदेखा किया गया है या यह कार्य बहुत धीमी गति से हो रहा है। (Dandekar,2016: 81-82) इससे प्रतीत होता है कि पेसा कानून पांचवी अनुसूची के प्रावधानों में समंजस्य स्थापित करने की अवश्यकता है। दूसरा, पांचवी अनुसूची के प्रावधान इतने प्रभावशाली है कि इसमें न केवल जनजातियों को, बल्कि गैर-जनजाति समुदाय को सुरक्षा प्रदान की गई है। पांचवी अनुसूची के पैरा 5(1) में गवर्नर के पास अधिकार है कि वह संसद और राज्य विधानसभा के कानून इन क्षेत्रों में लागू होने से रोक सकता है या कुछ विशेष बदलाव के लिए लौटा सकता है। गवर्नर इन कानूनों को मानने के लिए किसी प्रकार से बाध्य नहीं है। इसलिए पांचवी अनुसूची को संविधान में संविधान की संज्ञा दी गई है। (Sharma, 2014: 41)

तीसरा, बहुसंख्यक आदिवासी आबादी जंगलो और उनसे प्राप्त होने वाले प्रदार्थों पर निर्भर है। लेकिन वर्तमान में आदिवासियों के अधिकारों, स्वशासन, स्वायत्ता आदि पर ध्यान न देकर, परिस्थिति, पर्यावरणवाद, प्राकृतिक संरक्षण आदि पर बल दिया जा रहा है, क्योंकि ये सब विषय राज्य की राजनीतिक अर्थव्यवस्था से संबन्धित है। (Kannabiran, 2012: 262) पेसा कानून के बाद इन के प्रकार के कार्यों में ओर बढ़ोतरी हो रही है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि आदिवासी समुदाय का अपने ही संसाधनो पर से अधिकार छिनता जा रहा है, क्योंकि सार्वजनिक जनकल्याण और विकास कार्यों के लिए ग्राम सभा की अनुमति के बिना भी आदिवासियों की भूमि प्राप्त की जा रही है। चौथा, नक्सल प्रभावित जिलों में पेसा कानून के प्रावधान आदिवासी स्वशासन के लिए अप्रभावित साबित हो रहे है, इन जिलों में लागू की जाने वाली योजनाओं में राज्य व जिला प्रशासन का प्रत्यक्ष दखल है। (Dandekar, 2016: 79) एक तरफ तो यू. पी. ए. (संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन) सरकार का पंचायती राज मंत्रालय वर्ष 2013 में पेसा कानून में संशोधन पर विचार के लिए इसे जनता के सामने रखा। वही दूसरी ओर इसी समय पेसा के प्रावधानों को अनदेखा कर 73 परियोजनाओं को लागू करने की सहमति प्रदान कर दी गई। (Choubey, 2015: 23)

पांचवा, संपत्ति का अधिकार आदिवासियों की भूमि की सुरक्षा का महत्त्वपूर्ण प्रावधान है, लेकिन संविधान में इसे केवल एक कानूनी अधिकार (न की मौलिक अधिकार) के रूप में मान्यता दी गई है, इससे राज्य इनकी भूमि ग्राम सभा की सामान्य सहमति से प्राप्त कर सकता है। जबकि पांचवी अनुसूची में

आदिवासियों की सुरक्षा और हित के लिए इस प्रकार के प्रावधान हैंकि इनकी भूमि का हस्तांतरण गैर आदिवासी समुदाय को नहीं किया जाएगा, इसके लिए संसद इनकी सुरक्षा के लिए सामान्य नागरिकों के आवागमन पर प्रतिबंध लगा सकती है। (Kurup, 2008: 117-118) परंतु पेसा कानून के बाद इस प्रकार के प्रावधान व्यवहार में कमजोर हुए है जैसे, पेसा 4 (i), (j), (k) और (l) में भूमि और इससे संबधित प्रदार्थों को केवल सामान्य विचार- विमर्श से प्राप्त किया जा सकता है, इस संदर्भ में 1997 में सर्वोच्च न्यायालय का 'समाता' निर्णय अति महत्त्वपूर्ण है जिसमें उसने जनजातियों की भूमि और अधिकारों की सुरक्षा के लिए आंध्र प्रदेश सरकार को पांचवी अनुसूची के प्रावधानों को सख्ताई से लागू करने का आदेश दिया।

छटा, पेसा कानून आदिवासी स्वशासन के लिए एक प्रभावशाली प्रावधान के रूप में लागू किया गया था, परंतु केंद्र सरकार के दो अलग मंत्रालयों (पंचायती राज मंत्रालय और आदिवासी जनकल्याण मंत्रालय) के बीच प्रर्याप्त सहयोग और समन्वय न होने के कारण आदिवासी समुदाय अपने स्वशासन के विचार से अभी बहुत दूर हैं, जो उन्हें पेसा कानून में देने की बात कही है। (Dandekar, 2016: 78-79) इस प्रकार पेसा कानून के बावजूद आदिवासी समुदाय राज्य सरकार के द्वारा पेसा के प्रावधानों को पूरी तरह लागू न करने की राजनीतिक इच्छा शक्ति की कमी, नौकरशाही का गैर जिम्मेदार रवैया और भष्टाचार आदि के कारण अपने उदेश्य से अभी बहुत दूर है। इसलिए इनके लिए यह बहेत्तर होगा पेसा के साथ पांचवी अनुसूची के प्रावधानों को प्रभावशाली तरीके से लागू किया जाए। सातवां, उड़ीसा राज्य में 'लंजिया सोरास' एक जनजाति वर्ग है यह वर्ग अपने यहां पंचायत चुनाव (पेसा कानून के तहत) कराने में असमर्थ है, इसी प्रकार मध्य प्रदेश में 'संथाल' जनजाति वर्ग का मानना है कि उनके कल्याण और विकास में पंचायत चुनाव की कोई भूमिका नही है। 'घोंड' और 'भील' आदिवासियों का भी यह मत है कि पंचायत व्यवस्था ने उनकी परम्परागत परिषद की महत्त्वपूर्ण भूमिका समाप्त कर दी है। (Chaudhary, 2004: 117)

आठवां, प्रशासनिक सुधार आयोग की छठी रिपोर्ट (2007) में बताया गया हैं कि राज्य ने पांचवी अनुसूची में इस प्रकार के कानून पास किए हैं जो ग्राम सभा को हस्तांतरण की जाने वाली शक्तियों के साथ समझौता कर रहे हैं। (Dandekar, 2016 :79) इसमें कोई संदेह नहीं हैं कि भारतीय संविधान की संरचना संघीय हैं, लेकिन इसकी प्रवृति केंद्रीकृत हैं, पेसा कानून के पीछे भी यह सोच काम कर रही है। पेसा कानून में आदिवासियों को स्वशासन और स्वायतता प्रदान न करके विकेंद्रीकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है। इसलिए छठी अनुसूची के समान ही इन्हें विकेन्द्रीकरण के स्थान पर स्वायत्त अधिकार देने की आवश्यकता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है पेसा कानून आदवासी क्षेत्र में ग्राम स्वराज प्रदान करने वाले 'हमारा कानून' के रूप में परिभाषित किया गया है, कि यह आदिवासियों में संविधानवाद के हस्तांतरण की नीव के रूप में कार्य करके संविधान की पांचवी अनुसूची के केन्द्रीय बिंदु के रूप में समन्वय स्थापित करेगा। यदि हम पेसा को विस्तार पूर्वक देखे तो प्रतीत होता है कि इसकी संरचना में सुधार की आवश्यकता है। स्थानीय लोकतांत्रिक प्रशासन प्रकिया को सही से लागू न होने के कारण इनके परम्परागत अधिकार समाप्त होने लगे हैं।

इस संदर्भ में 1997 का सर्वोच्च न्यायालय का 'समाता निर्णय' अतिमहत्त्वपूर्ण है जिसमें आंध्र प्रदेश सरकार को आदिवासी भूमि और परंपरागत अधिकारों को बनाए रखने के लिए पांचवी अनुसूची के प्रावधानों को सख्ताई से लागू करने का आदेश दिया गया। बहुत से आदिवासियों का मानना है कि पेसा कानून ने उनकी परंपरागत पंचायतों की भूमिका समाप्त कर दी है और नए पंचायती चुनाव की उनके जीवन में कोई ख़ास भूमिका नहीं है। इसका मुख्य समाधान यह हो सकता है कि आदिवासी स्वशासन और राष्ट्रीय नीति में इस प्रकार समन्वय स्थापित किया जाए कि विकास के साथ समझौता किए बिना इनके पारम्परिक जीवन को सुरक्षित रखा जा सके (Kurup,2014: 3)। इसलिए अगर पेसा कानून को सफल बनाना है तो पांचवी अनुसूची के मूल्यों को इसके केंद्र में रखने होंगे, क्योंकि आदिवासी स्वशासन और अधिकारों की नींव पांचवी अनुसूची पर टिकी है।

संदर्भ सूची-

1. Sharma, B. D. (1984). Planning for tribal development. Prachi Prakashan.
2. Dandekar, A. (2016). PESA: The impasse of the legislative process. In V. Mudgal (Ed.), Claiming India from below: Activism and democratic transformation in central Indian tribal regions. Routledge.
3. Mathew, G. (2013). Status of Panchayati Raj in the states and union territories of India. Institute of Social Sciences; Concept Publishing Company.
4. Kannabiran, K. (2012). Tools of justice: Non-discrimination and the Indian constitution. Routledge.
5. Chaudhary, S. N. (2004). Tribal leadership in panchayat: A study of their profile, performance and plan. In D. C. Shah & Y. S. Sisodia (Eds.), Tribal issues in India. Rawat Publications.
6. Sharma, B. D. (2000). The Fifth Schedule (Vol. 1). Sahyog Pustak Kuteer Trust.
7. बसु, डी. डी. (2013). भारत का संविधान: एक परिचय (10वाँ संस्करण). लेक्सिस नेक्सिस पब्लिकेशन.
8. शर्मा, बी. डी. (2010). पेसा कानून: उर्फ पंचायत उपबंध (अनुसूचित क्षेत्रों पर विस्तार) अधिनियम 1996. सहयोग पुस्तक कुटीर ट्रस्ट.
9. Bijoy, C. R. (2012). Panchayat Raj (Extension to Scheduled Areas) Act of 1996: Policy brief. UNDP.
10. Bodhi, S. R. (2013). Of savagery, disruption, historical injustice and political distortion: Reflections on Chottanagpur. Adivasi, State and Empowerment, 1(2). Journal of Tribal Intellectual Collective India.
11. Choubey, K. N. (2016). The state, tribals and law: The politics behind the enactment of PESA and FRA. Social Change, 46(3), 1–16. SAGE Publications.
12. Kurup, A. (2008). Tribal law in India: How decentralized administration is extinguishing tribal rights and why autonomous tribal governments are better. Indigenous Law Journal, 7(1).
13. Kurup, A. (2014). Tribal law in India: How decentralized administration is extinguishing tribal rights and why autonomous tribal governments are better. Critical Publication.
14. चौबे, कमल नयन. (2013). दो प्रगतिशील कानूनों की दास्तान: राज्य, जन-आन्दोलन और प्रतिरोध. प्रतिमान पत्रिका, 1(1).

डॉ. अमिता
सहायक प्राध्यापक
दिल्ली कॉलेज ऑफ़ आर्ट्स एंड कॉमर्स
दिल्ली विश्वविद्यालय
amitakumar1905@gmail\com

जनजातीय गौरव का प्रतीक बिरसा मुंडा

शोध सार: इस शोध आलेख के केंद्र में बिरसा मुंडा और उनके जनजातीय समुदाय के लोगों का अंग्रेजों के विरुद्ध स्वतंत्रता संग्राम के संघर्ष को बताने एवं आज की पीढ़ी को अपने हक़-हकूक की प्राप्ति हेतु संगठित होने की प्रेरणा देने का प्रयास किया गया है।

बीज शब्द: जनजातीय गौरव, वैचारिक जागृति, हुकूमत, दिकू, आयुर्वेदिक ज्ञान, स्वतंत्रता संग्राम, बिरसाइयत, मुंडा जनजाति, औपनिवेशिक, शोषण, बेगारी, जमींदारों, आंदोलन आदि।

भारत को स्वतंत्रता दिलाने में कई महानायकों की भूमिका रही है, उनमें से एक नाम बिरसा मुंडा का है जिन्होंने औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध अपने जनजातीय समुदाय को सचेत किया। तत्कालीन सामंतीय व्यवस्था और अंग्रेजी हुकूमत भोले-भाले आदिवासियों से उनकी ही ज़मीन पर बेगारी कराते तथा अवसर पड़ते ही उनकी ज़मीने हड़प लेते। तमाम शारीरिक एवं मानसिक प्रताड़ना जनजातीय समुदाय को दी जाती। बिरसा मुंडा शिक्षा के महत्त्व को समझते थे। वे जानते थे, अंग्रेजों के शोषण का विरोध आदिवासी शिक्षित एवं संगठित होकर ही कर सकते थे। इसलिए बिरसा मुंडा ने गहन अध्ययन किया। धर्म ग्रंथों और दर्शन के अध्ययन से उन्होंने भारतीय समाज व्यवस्था को समझा। परिणामतः आदिवासी समाज में वैचारिक जागृति पैदा करने में सहायता मिली। बिरसा मुंडा के अथक प्रसायों और कुशल नेतृत्त्व का ही परिणाम था कि उन्होंने हजारों जनजातीय लोगों को इकठ्ठा कर अंग्रेजों के खिलाफ आंदोलन किया।

तत्कालीन दरोगा ने बिरसा मुंडा के खिलाफ डिप्टी कलेक्टर से शिकायत की। अधिकारियों ने बिरसा मुंडा को पकड़ने की जैसे ही घोषणा की उधर बिरसा मुंडा ने भी अपने लोगों को एकत्रित कर असहयोग आंदोलन प्रारम्भ कर दिया। मृत्यु पूर्व अंग्रेजों ने बिरसा को अपनी स्वत्रंता की मांग के अलावा अनेक प्रलोभन दिए, लेकिन बिरसा ने सभी को ठुकरा दिया। बिरसा मुंडा ने अपनी अंतिम सांस तक आजादी की लड़ाई लड़ी। वे अपनी माटी, धर्म और संस्कृति के प्रति समर्पित थे। अंग्रेजो ने छल से बिरसा को पकड़कर बंदी बनाया, बाद में उनकी मृत्यु का कारण हैजा प्रसारित किया। आज तक छोटा नागपुर क्षेत्र में बिरसा को असंख्य आदिवासी ईश्वर के रूप में पूजते हैं। भारत सरकार आज बिरसा मुंडा की जयंती को जनजातीय गौरव दिवस के रूप में मनाती है।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के बड़े आदिवासी नेता, जल, जंगल, जमीन से संबंधित आदिवासियों के हक के लिए लड़ाई लड़ने वाले महानायक बिरसा मुंडा से जुड़ी दो तिथियां नौ जून (शहादत दिवस) और 15 नवंबर (जन्म दिवस) का खास महत्त्व है। इस वर्ष उनकी शहादत को 125 वर्ष और जन्मदिवस को 150 साल पूरे हो रहे हैं। इस तरह पूरे वर्ष जनजातीय समुदाय और स्वतंत्रता संग्राम में उनके योगदान का स्मरण किया जा रहा है। कम आयु में ही झारखंड के बिरसा मुंडा औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध जन-प्रतिरोध के महानायक बन गए। जब

ब्रिटिश अधिकारी और स्थानीय जमींदार जनजातीय समुदायों का शोषण कर रहे थे, उनकी जमीने हड़प रहे थे। तब बिरसा साहस के साथ सामाजिक और आर्थिक अन्याय के विरुद्ध खड़े हुए। उन्होंने स्थानीय लोगों को अपने अधिकारों की लड़ाई के लिए प्रेरित करना प्रारंभ किया। परंतु बिरसा जानते थे शोषण के विरुद्ध उनकी लड़ाई लंबी है और इस लड़ाई को बिना शिक्षा और तर्क से नहीं लड़ा जा सकता। इसलिए शिक्षा के महत्त्व को समझाते हुए बिरसा ने गहन अध्ययन करना प्रारंभ किया। बिरसा ने धार्मिक ग्रंथों, दर्शन के अतिरिक्त आयुर्वेदिक ज्ञान भी प्राप्त किया। उन्होंने अर्जित ज्ञान को अपने तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि अपने आदिवासी भाइयों को भी शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया जिससे वे अंधविश्वासो के प्रपंच से बाहर आ सकें, साथ ही उनकी वैचारिक समझ को भी विस्तार मिल सके जिससे अंग्रेजों के खिलाफ स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी जा सके। उनका विरोध दो मोर्चो पर था, एक अंग्रेजों के विरुद्ध दूसरा दिकूओ (सहकारी के विरुद्ध)। क्योंकि उनका मानना था कि टोपी-टोपी एक है और साहब-साहब एक हैं। अर्थात अंग्रेज और दिकू हम आदिवासियों का निरंतर शोषण करते रहेंगे। इसलिए उलगुलान जरूरी है। वह अपनी ओज वाणी में मुंडाओं से कहते हैं- "जमींदार के अत्याचारों की यंत्रणा से/ मानव के दुख से देश आज उछल रहा है/ चलो उठा लो धनुक और बलोया/ जीने से मरना भला आज/ हमारे/ नेता बिरसा भगवान/ हमारे लिए हो वे आए यहां/ जीने से मरना भला आज/ चल तैयार हो तूणीर, तीर और तलवार ले/ डोंबारी पहाड़ पर जमा हो सब/ धरती के अब बात करेंगे वहां/ बंदरों की किचकिच से डरेंगे नहीं हम/ किसी तरह छोड़ेंगे नहीं जमीदार महाजन/ बनियों विदेशियों को/ उन्होंने तो छीन लिया है हमारा देश/ अपना अधिकार छोड़ेंगे नहीं/ चीता, बाघ के दांतो सांप के आक्रमण से पाया था देश/ इस सुंदर देश को उन्होंने छीन लिया।"[1]

उन्होंने समस्त जनजातीय लोगों को अंग्रेजी शोषण के विरुद्ध एकजुट करना प्रारंभ किया। 1 अक्टूबर 1894 को एक युवा नेता के रुप मे सभी मुंडाओं को एकजुट कर अंग्रेजो से लगान माफी के लिए आंदोलन किया। 1895 को बिरसा को गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तार होने के बाद अपने लोगों को आजादी और संघर्ष का संदेश देते हुए बिरसा मुंडा कहते हैं कि- "मैं तुम्हें अपने शब्द दिए जा रहा हूँ, उसे फेंक मत देना, अपने घर या आंगन में उसे संजोकर रखना। मेरा कहा कभी नहीं मरेगा। उलगुलान! उलगुलान। और ये शब्द मिटाए न जा सकेंगे। ये बढ़ते जाएंगे। बरसात में बढ़ने वाले घास की तरह बढेंगे। तुम सब कभी हिम्मत मत हारना। उलगुलान जारी है।"[2] जेल से रिहाई के बाद बिरसा ने अपने क्षेत्र के अकाल पीड़ित लोगों की मदद की। उन्होंने कई पीड़ित परिवार के लोगों को मृत्यू के संकट से उभारा था जिस कारण लोग उसे भगवान मानने लगे थे। उनके इन्हीं सुकर्मों की वजह से उन्हें 'धरती आबा' के नाम से जाना जाने लगा है।

1895 में बिरसा ने अंग्रेजी द्वारा थोपी गई जमीदारी व्यवस्था और राजस्व व्यवस्था के खिलाफ लड़ाई के साथ ही जंगल भूमि युद्ध छेड़कर 'अबुआ दिशुम अबुआ राज' का नारा दिया यानी हमारा देश, हमारा राज। ब्रिटिश सरकार ने बिरसा मुंडा के उलगुलान को दबाने के लिए हर संभव प्रयास किए, लेकिन वह आदिवासियों के गुरिल्ला युद्ध के सामने विफल रहे। 1895 में बिरसा मुंडा ने अंग्रेजी हुकूमत और जमींदारों के खिलाफ अपना आंदोलन पुनः शुरू किया। बिरसा की लोकप्रियता अंग्रेजों की परेशानी का कारण बनी हुई थी। 23 अगस्त 1895 को अंग्रेजों ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। बिरसा की गिरफ्तारी के बाद आंदोलन कमजोर पड़ गया। लेकिन लगभग ढाई साल बाद बिरसा जेल से बाहर आए और अंग्रेजों के खिलाफ पुनः आंदोलन किया। आंदोलन के दूसरे चरण में बिरसा ने कई स्थानों की यात्राएं की और लोगों को कंपनी शासन के विरुद्ध एकत्रित करना शुरू किया। इस बीच मुंडाओं की अंग्रेजी पुलिस के साथ मुठभेड़ भी हुई। 8 फरवरी 1900 को बिरसा को दूसरी बार गिरफ्तार किया गया। उन्हें रांची स्थित जेल में रखा गया। 9 जून 1900 को हैजा होने के कारण बिरसा की मौत हो गई। बिरसा मर

कर भी मुंडाओं में चेतना और अधिकार बोध भरकर उन्हें अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करना सिखा गए- "उलगुलान का अंत नहीं, भगवान का मरण नहीं।"[3] संधर्ष कभी समाप्त नहीं होता। इसका अंत तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि पराजय से संधर्ष का अंत नहीं होता। आदिवासी साहित्यकार हरीराम मीणा कृत कविता की पंक्तियाँ आज भी उनके संघर्षों को बयां करती हैं-

मैं केवल देह नहीं

मैं जंगल का पुश्तैनी दावेदार हूं

पुश्ते और उनके दावे मरते नहीं

मैं भी मर नहीं सकता

मुझे कोई भी जंगलों से बेदखल नहीं कर सकता

उलगुलान! उलगुलान! उलगुलान!"[4]

बिरसा मुंडा विद्रोह आंदोलन :

- बिरसा मुंडा द्वारा किया गया आंदोलन भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण आंदोलन था।
- 1899 और 1900 के बीच रांची के दक्षिण में मुंडा विद्रोह आंदोलन शुरू किया उसका नेतृत्त्व बिरसा ने किया।
- उन्होंने ब्रिटिश शासन के के खिलाफ गुरिल्ला शैली की विद्रोह सेवा का गठन किया।
- आंदोलन को सक्रिय बनाने के लिए 'अबुआ राज एते जाना महारानी राज टूंडू जाना' का नारा दिया।
- उन्होंने लोगों को टैक्स देने से मना किया जिस कारण अंग्रेजों ने उन्हें गिरफ्तार किया।

मुंडा विद्रोह के कारण :

- ब्रिटिश सरकार द्वारा शुरू की गई भूमि नीतियों ने कृषि प्रणाली की आदिवासी पारंपरिक प्रक्रिया पर हमला किया।
- ब्रिटिश मिशनरियों द्वारा किए गए धर्म-परिवर्तन ने आदिवासियों की पुरानी आस्था और ईश्वर की पूजा के साथ धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताओं पर विचार किया।
- बिदेश सरकार ने छोटा नागपुर पठार क्षेत्र में सामंती प्रणाली शुरु की जिसने खुंटकट्टी नामक स्थानीय आदिवासी कृषि प्रणाली को नष्ट कर दिया। यानि आम भूमि के मालिक स्वदेशी जनजातियों का एक समूह है।

उपलब्धियाँ :

- बिरसाइयत धर्म की स्थापना
- 1908 में उनकी मृत्यु के 8 साल बाद ब्रिटिश सरकार ने छोटा नागपुर टेनेंसी एक्ट लागू किया।
- यह कानून आदिवासी भूमि को गैर-आदिवासियों को हस्तांतरित करने पर रोक लगाता है और मालिकों के स्वामित्व अधिकारों की रक्षा करता है।
- बेगारी प्रथा समाप्त हुई।
- अब आदिवासी भी अपने हक़-हकूक की लड़ाई करना जानते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बिरसा मुंडा आदिवासियों का भगवान है। उन्होंने आदिवासियों के अधिकारों के लिए अंग्रेजों से संघर्ष किया और मरकर भी दूसरे बिरसा पैदा किए। गरीबी, अभाव, अत्याचार और शोषण भी उनके संघर्ष को रोक न सके। बिरसा एक विचारधारा है जिसे कोई मार नहीं सकता। बिरसा आदिवासी समाज में विचारों के रूप में आज भी जिंदा है। बिरसा ने जनजातीय लोगों के साथ मिलकर अंग्रेजी सत्ता के शोषण का विरोध किया और अपने लोगों की सेवा की, यही कारण है कि आदिवासी लोग उन्हें 'धरती आबा' मानते हैं। अतः उनके द्वारा किए गए कार्यों को भुलाया नहीं जा सकता, इसलिए भारत सरकार ने 10 नवंबर 2021 से उनके जन्मदिवस को जनजातीय गौरव दिवस के रूप में मनाने का संकल्प किया। आदिवासी जन कल्याण के लिए भारत सरकार ने कई योजनाएं सुनिश्चित की हैं, जिनमें से PVTG योजना है। इसके अंतर्गत विशेष रूप से कमजोर जनजातीय समूहों के घरों और बस्तियों को 3 वर्षों (2023-24 से 2025-26) में सुरक्षित आवास, स्वच्छ पेयजल आदि बुनियादी सुविधाएं प्रदान करने का लक्ष्य है। आदिवासियों के कल्याण के लिए सरकार द्वारा की कई योजनाओं के बाद भी जनजातीय समुदाय के लोगों की जल, जंगल और जमीन की लड़ाई आज भी जारी है। जब जंगल में किसी न किसी कारण से आग लगती है या लगाई जाती है, तब लगता है कि क्रांति आज भी जारी है। विकास के नाम पर आज आदिवासियों को उन्हीं के भूमि अधिकारों से वंचित किया जाता है, अपने इन अधिकारों को पाने ले लिए जब आदिवासी लोग अपनी आवाज उठाते हैं तो लगता है कि उलगुलान आज भी जारी है।

संदर्भ सूची:

1. देवी, महाश्वेता. (2019). जंगल के दावेदार. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 194
2. पंकज, कुमार. अश्वनी. आदिवासी शहादत. उद्धृत पंक्ति का स्रोत लेख: उलगुलान- जारी है जंगल पर दावेदारी का संघर्ष (फारवर्ड प्रेस)
3. देवी, महाश्वेता. (2019). जंगल के दावेदार. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 27
4. मीना, हरीराम. (2008). सुबह के इंतजार में. नई दिल्ली: शिल्पायन प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 26

पुस्तक समीक्षा

डॉ. रमन कुमार
अतिथि प्राध्यापक, हिंदी (इग्नू)
संपर्क सूत्र : 9315337171
इमेंल पता: ramantakiyadu@gmail.com

मानवीय अनुभूति से ओतप्रोत : 'वक़्त रुकता नहीं'

शोध सार : इस आलेख के माध्यम से बसन्त चौधरी के कविता संग्रह **'वक़्त रुकता नहीं'** को समीक्ष्य दृष्टि से देखने का प्रयास किया गया है।

बीज शब्द : उच्छंखल, गतिमान, पश्चाताप, प्रतिकूल, परेशानियाँ, सहनशीलता, कवितात्मक, उच्चतम शिखर, अवगुण, आत्मीयता, सिरजनहार, पालनहार, सांसारिक, आधारभूमि, भावाभिव्यक्ति, आत्मचिंतन, आत्ममंथन।

बसन्त चौधरी नेपाल के प्रसिद्ध उद्योगपति हैं, किंतु उनमें कवि हृदय भी है जो उन्हें साहित्यिक जगत से जोड़ता है। नेपाली साहित्य में उन्हें विशेष पहचान प्राप्त है और अब वे हिंदी साहित्य जगत में भी अपनी साहित्यिक जड़े मजबूत कर रहे हैं। इस संग्रह को मिलाकर हिंदी में अब तक उनके पांच कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं- 'मेघा', 'आँसुओं की सियाही से', 'चाहतों के साए में', 'अनेक पल और मैं', और 'वक़्त रुकता नहीं'। कविता संग्रहों के अतिरिक्त उनके हिंदी में निबंध संग्रह हैं- 'राष्ट्रीयता नदुखोस' और 'संवाद' तथा दो गीत एल्बम हैं- 'कुछ ख्वाहिशें कुछ बंदिशे' और 'मोमेंट्स ऑफ़ लव'। 'वक़्त रुकता नहीं' शीर्षक कविता संग्रह की विशेष अभिव्यक्ति को विश्लेषित करते हुए बसन्त चौधरी लिखते हैं कि- "वक़्त अच्छा हो या बुरा वह रुकता नहीं। वह निरंतर बहता रहता है, उच्छंखल पहाड़ी नदियों की तरह है और हम उसमें से ही अपने लिए अनुभवों के मोतियों को समेंटकर, यादों की पोटली बाँध कर, जीने का बहाना तलाश कर लेते हैं। आपके हाथों में इन्हीं यादों और अनुभवों की पोटली है 'वक़्त रुकता नहीं' के रूप में।"[1]

वक़्त कब किसका एक समान रहा है वह तो जल प्रवाह की तरह अबाध गति से सदैव गतिमान है। वक़्त बदलता रहता है और अपने साथ बदल देता है व्यक्तियों और उनकी इच्छाओं को। यही इच्छाओं का बदलाव आगे चलकर उनकी परिस्थितियों में बदलाव का कारण बनता है। जो आराम से बैठकर अपना वक़्त काटते हैं, उन्हें गलतफ़हमी ने अपने जाल में जकड़ा होता है। सच्चाई तो यह होती है कि वक़्त उनके भविष्य के खुशनुमा रास्तों को काट रहा होता है, जिसका एहसास उन्हें वक़्त गुजर जाने के बाद होता है और तब उनके पास पश्चाताप की लकीरें पीटने के सिवाय कुछ नहीं बचता। वक़्त बदलने में समय नहीं लगता। वक़्त जब साथ देता है तो विरोधी

भी पक्ष में आकर खड़े हो जाते हैं और जब यह साथ छोड़ता है तो अपने भी बेगाने हो जाते हैं। इसे न तो बांधा जा सकता है और ना ही वश में किया जा सकता है। सिर्फ इसके साथ कदम-दर-कदम चलते हुए विषम परिस्थितियों को ठीक करने का भरसक प्रयास किया जा सकता है। सही समय पर सही कार्य करने से ही प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल किया जा सकता है, अन्यथा 'वक़्त का मिजाज' बदलने में वक़्त नहीं लगता। यदि- "टाले गए समय में हम सोचें कि/ परेशानियाँ भी टल गईं होंगी/ तो यह हमारा, मात्र भ्रम ही होगा/ परेशानियाँ टलेंगी नहीं, अपितु/ पहाड़ बनकर पुनः खड़ी हो जाएंगी।"[2] इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति को सही समय पर सही बात करनी चाहिए और सही समय पर सही कार्य-

"क्योंकि,
जिस तरह समय से पूर्व बिना पके
फल तोड़कर एकत्र कर लेना
व्यर्थ है,
उसी तरह वक़्त से पहले
कही गई बात
महत्त्व नहीं रखती।"[3]

बसन्त चौधरी एक कुशल उद्योगपति होने के साथ एक अच्छे कवि को अपने मन-मस्तिष्क की अंतरतम गहराई में बसाए हुए हैं। बसन्त जी देश, दुनिया व समाज को कभी अच्छे कुशल उद्योगपति की दृष्टि से देखते हैं तो कभी कवि हृदय की अंतरात्मा से। उनकी 'हार-जीत' शीर्षक कविता में एक ओर तो कुशल उद्योगपति की सहनशीलता, उसका धैर्य, उसका संघर्ष, उसका हार को जीत में बदलने का हौसला व हार से कभी न हार मानने वाली संघर्ष यात्रा दिखाई देती है तो दूसरी ओर अच्छे कवि के गुण भी नज़र आते हैं। इस कविता को पढ़ते हुए ऐसा महसूस हुआ मानो कुशल कवि के द्वारा एक कुशल उद्योगपति के अनुभवों को कवितात्मक रूप दिया गया हो-

"हार से कभी विचलित नहीं हो
हौसला रखना बहुत ज़रूरी है
क्योंकि जीतता हौसला ही है
हार आती है तो जाती भी है
और जाते वक़्त दे जाती है,
एक सीख़
लड़ने के लिए मुसीबतों से
प्रशस्त करती है राह
नये अवसरों के लिए।"[4]

जैसे हर सिक्के के दो पहलू होते हैं वैसे ही इस जीवन संग्राम में जिंदगी के अनिवार्य पहलू- हार और जीत हैं। इस जीवन संग्राम में यदि कोई जीतता है तो कोई न कोई हारेगा भी। यह भी आवश्यक नहीं है कि जो आज

जीता है वह कल फिर जीत जाएगा हो सकता है इस बार कोई और व्यक्ति जीत जाए, जिसने अधिक मेहनत की हो। यहां कहने का अभिप्राय मात्र इतना है कि जीवन में कभी हार नहीं माननी चाहिए, हमें जीतने के लिए निरंतर प्रयास करते रहना चाहिए। जीवन की तमाम बाधाओं से जूझते हुए अपने लक्ष्य को ध्यान में रखकर धीरे-धीरे आगे बढ़ते रहने की कोशिश करते रहना चाहिए। नदी के किनारे पर बैठकर लहरों को गिनते रहना या नदी की गहराई का अंदाजा लगाते रहना, ये सब निरर्थक बातें हैं जिन्हें अपने लक्ष्य को प्राप्त करना होता है, वे ऐसे बैठकर समय व्यर्थ नहीं करते अपितु वे-

"भिड़ जाते हैं बाधाओं से,
कूद पड़ते हैं पानी की धार में
और पा लेते हैं पार,
नदी के पाट की तरह ही,
जीवन की कठिनाईयों पर भी।"[5]

यही जीवन की सच्चाई है, जो अपने ख्वाबों को मुकम्मल करना चाहता है वह बहाने नहीं बनाता बल्कि वह तो लक्ष्य को प्राप्त करने वाले उन आयामों की तलाश करता है, जो तरक्की के उच्चतम शिखर की ओर ले जाते हों। बसन्त चौधरी की काम, कर्म और ईश्वर के प्रति गहरी आस्था है। जीवन में सुख और दुख ठीक इसी प्रकार आते हैं जैसे धूप के बाद छांव और दिन के बाद रात। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, जीवन के अभिन्न अंग हैं। इस धरा पर जो जैसा बोता है वह वैसा ही काटता है। यह सब व्यक्ति के कर्मों पर निर्भर करता है। इसलिए कवि ईश्वर से प्रार्थना करता है कि हे ईश्वर! मुझे ऐसा मानव हृदय दीजिए जिससे मैं दूसरों के दुख-दर्द केवल समझ ही न सकूं बल्कि उनको आत्मसात करके उनके कष्टों का निवारण भी कर सकूं। मुझे अभिमान, अज्ञान, आलस और स्वार्थ जैसे अवगुणों से वंचित ही रखना क्योंकि ये सभी अवगुण व्यक्ति को पतन के द्वार तक ले जाते हैं। इसलिए-

"... दीजिए मुझे सामर्थ्य
ताकि चल सकूँ मैं सतत सद्मार्ग पर
बन सकूँ किसी बेसहारा का सहारा,
निभा सकूँ अपनी निष्ठा मानवता के प्रति,
समाज के प्रति, परिजनों के प्रति
बिना किसी भेद-भाव के
यही बस यही
वरदान माँगता हूँ।"[6]

इस स्वार्थी और मतलबी दुनिया में ऐसे बहुत से लोग मिलेंगे जो अपने हित के लिए दूसरों को धमकाते हैं, सताते हैं और उन्हें पथ भ्रमित करते हैं किंतु सही रहा कोई नहीं दिखाता। कवि भी स्वार्थी लोगों के स्वार्थीपन का शिकार हुआ है किंतु उन पर ईश्वर की कृपया उन पर बनी रही। इस कृपया भाव से- "तन-मन में आल्हाद भर गया/ जीवन को बेफ़िक्र कर दिया।"[7]

पारिवारिक रिश्ते नाजुक होते हैं। इसलिए इन्हें बहुत प्यार से सहेज कर रखना होता है और कभी-कभी रिश्तों की गरम आज को भी ठंडा करना पड़ता है। कोई भी रिश्ता किसी लिखित दस्तावेज के बूते नहीं चलता, बल्कि वह तो बड़े ही लाड-प्यार से पाला-पोसा जाता है। आत्मीयता और विश्वसनीयता किसी भी रिश्ते को बनाए रखने की प्रथम और अंतिम प्रेमानुभूतिपरक अवस्था है। जीवन में निस्वार्थ भावना से अपना सब कुछ न्यौछावर कर देने वाली माँ को सृष्टि का सिरजनहार, पालनहार मानते हुए कवि कहता है कि-

"माँ आप ही सृष्टि की सृजक हैं
समस्त सृष्टि
समाहित है आप में ही
इसलिए तो सृष्टि का नाम ही है माँ।"[8]

कुछ रिश्ते समय एवं परिस्थितियों के साथ बनते-बिगड़ते हैं किंतु इन रिश्तों में कुछ रिश्ते ऐसे होते हैं जो जीवन के अंतिम पड़ाव तक साथ देते हैं, क्योंकि इन रिश्तों को चलाने वाली डोर है- विश्वास। इनके अलावा कुछ रिश्ते ऐसे होते हैं जो स्वार्थ पर टिके होते हैं लेकिन ये रिश्ते लंबे समय तक नहीं चलते। पिता इन तमाम पारिवारिक रिश्तों को सहेज कर रखने वाला होता है। पिता जो पारिवारिक रिश्तों को निभाते हुए न कभी थकता है और न ही कभी हार मानता है। उसे न तो भूख में भूख का एहसास होता और न ही बीमारी में बीमारी का। वह सुबह घर से निकलता है और देर शाम लौटता है। अपने उन तमाम सपनों को पूरा करने के लिए जो उसने परिवार के लिए देखे और सजाए हैं। जीवन की इस आपाधापी में वह यह तक भूल जाता है कि इससे पहले वह क्या था? और अब क्या हो गया है? कई बार परिवार के अन्य सदस्य उसकी तेज व कड़क आवाज के पीछे छुपे प्रेम को पहचान नहीं पाते और न ही पिता को प्रेम जताना आता है। इन सबके बावजूद वह तो सिर्फ-

"माँ का लाडला, पत्नी का आदर्श पति
बच्चों का भविष्य
सुगम, सुन्दर और आनन्दमय
बनाना चाहता है...।"[9]

भाई बहन हंसते-खेलते, लड़ते-झगड़ते न जाने कब बड़े हो जाते हैं और एक दिन ऐसा समय आता है जब ये दोनों नए बंधनों में बंधकर एक-दूजे से अलग हो जाते हैं। चोरी-छिपे हंसने-रोने के लिए साथ रह जाती हैं सिर्फ यादें। कवि ने 'राखी के धागे' शीर्षक कविता में कवि ने भाई-बहन के प्रेम व स्नेह को संबोधित करते हुए लिखा है कि-

"दमक उठे हैं चेहरे,
भाई-बहन के,
देखकर एक दूजे को
आ गया है निश्छल बचपन,
ढेरों यादों को

फिर से न्यौछावर करने।"[10]

सांसारिक मोह-माया में पड़कर मनुष्य अपनी मनुष्यता तक भूल जाता है और अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए दूसरों का शोषण करने लगता है। किंतु वह यह भूल जाता है कि भले ही उसकी क्रूरता पर कोई न बोले, भले ही उसके शोषण के विरुद्ध कोई आवाज न उठाएं, लेकिन उसे वह जरूर देख रहा है जिसकी लाठी में आवाज नहीं होती। पर उसकी लाठी कभी ना कभी पड़ती जरूर है- "किये हुये अच्छे या बुरे/ कर्म और धर्म के फल/ उन्हीं के अनुरूप तत्काल मिलते हैं/ कभी-कभी थोड़ी देर से भी/ परंतु मिलते अवश्य हैं।"[11] मनुष्य न तो साथ कुछ लाया था और न ही कुछ लेकर जा सकता है। इस बात को अक्सर हम भूल जाते हैं और इसी भूल में बड़ी-बड़ी भूले कर बैठते हैं। 'मानव-स्वभाव' शीर्षक कविता ऐसे ही स्वार्थी लोगों पर निशाना साधती प्रतीत होती हैं-

"देखिए मानव की आपाधापी
आवश्यकता से अधिक की चाह
फिर भी संतोष नहीं
दूसरे के हक़ में सेंध लगाने के लिए
रहता है सदैव सचेत, तत्पर,
ताक में रहता है
कब बिल्ली की तरह झपट्टा मारे मलाई पर।"[12]

मनुष्य विश्वभर में अनेक मुकाम हासिल कर रहा है। सब में एक-दूसरे से आगे निकलने की होड़ मची है। यही होड़ हमें घर, परिवार और समाज से दूर करती जा रही है। आज का मनुष्य रेत के कणों की भांति है जो रेगिस्तान की तेज हवाओं में ऊंचे-ऊंचे टीले बना देता है, किंतु अगले दिन उन रेत के कणों से बने टीलों का उस जगह पर निशान तक नहीं रहता। हवा फिर बदल देती है उनका आकार और बिखेर कर रख देती है उन कणों को यहां-वहां। यही कारण है कि-

"बदल रही हैं स्थितियाँ
और परिवेश बार-बार
बना रहे हैं नयी-नयी तस्वीर
या कहें तक़दीर रेत की
ये रेत कण
जो बिखर रहे हैं आज
बिल्कुल मानव की तरह।"[13]

यदि शहरी जीवन से परे ग्रामीण परिवेश की ओर चलें तो वहाँ सुबह का नजारा अद्भुत होता है। यहाँ लोगों की सुबह घड़ी की टिक-टिक से नहीं, अपितु पक्षियों के कलरव और आँगन में चिड़ियों की चहचहाहट से होती है। यहाँ की धूल में भी सुखदगंध का एहसास होता है। गांव की चौपालों में देर रात तक चांद की दूधिया चांदनी बैठकर बड़े-बूढ़ों से किस्से-कहानियां सुनना अत्यंत मनोरम चित्र को उद्घाटित करता है। धीरे-धीरे ग्रामीण

क्षेत्रों से भी ऐसे चित्र मिटने लगे हैं। आज हम आधुनिकता की चकाचौंध में प्रकृति का दोहन करते हुए ग्रामीण जीवन व परिवेश को समेंटते जा रहे हैं। आधुनिकता भरे जीवन की यह यात्रा हमें कहां ले जा कर छोड़ेगी यह तो वक्त ही बताएगा।

प्रकृति मानव जीवन का मूल स्रोत है। इसमें जीवन के विविध आयाम व्याप्त हैं। पतझड़ के बाद जैसे ही वसंत का मौसम आता है, तो कोमल-कोमल कलियां खिलने लगती हैं। उन कलियों से खिले फूलों पर भंवरों की गुंजन मन-मस्तिष्क को मदमस्त कर देती है। इस मौसम में बयार अपनी मस्ती में बहती है और बयार की मस्ती में झूमते पत्ते-पत्ते, डाली-डाली मानो ऐसे लगते हैं, जैसे रास रचा रहे हों। यह मौसम बच्चे, बूढ़े और युवा सबके लिए अनुकूल होता है। बसंत चौधरी जी ने प्रकृति के प्रतीकों को मानवीय जीवन की आधारभूमि पर सरलता से रूपायित किया है। 'गहरी नींद' शीर्षक कविता से एक उदाहरण दृष्टव्य है-

"सुख होता है सुबह जैसा
जो माँगने से नहीं,
अपने-आप आता है
थोड़ा सा जतन करना आवश्यक है,
सुख और सुबह से मिलने के लिए
जागना पड़ता है
कुछ जल्दी,
गहरी नींद को त्यागकर।"[14]

इस संग्रह की कविताओं को उद्घाटित करते हुए हंसराज कॉलेज की प्राचार्या प्रोफेसर रमा लिखती हैं कि- "बसन्त चौधरी की कविताओं का अध्ययन बताता है कि व्यक्ति का वास्तविक जीवन अपनी आत्मा का परिष्कार है। मन की शुद्धता है। कवि जानता है कि सभी समस्याओं का समाधान हमारे अंदर ही है। वह यह भी बताना चाहता है कि जीवन के प्रति उदासीनता का भाव भी अपराध है। कठिन-से-कठिन समय में मुस्कुराना जीवन को नया अर्थ देता है।"[15] वही डॉ. मुक्ता लिखती हैं- "जीवन-दर्शन से ओत-प्रोत 'वक़्त रुकता नहीं' की कविताएँ जीवन के हर पहलू को परिभाषित करती नजर आती हैं।"[16]

निस्संदेह 'वक़्त रुकता नहीं' के संदर्भ में दोनों टिप्पणियां सत्य हैं, क्योंकि इसके माध्यम से जीवन के हर पक्ष को पाठक और समाज के समक्ष लाने का प्रयास किया गया है। इसमें जीवन जीने और उसे संवारने का, आत्मचिंतन और आत्ममंथन करने का गहन अनुभव विद्यमान है। इस संग्रह कविताओं में तमाम मानवीय मूल्यों को समझने और समझाने की अद्भुत कला है। इसमें कर्म है, धर्म है, रिश्ते हैं, नाते हैं, सुख है, दुख है, हास है, उल्लास है, रंग है, रंगीनियत है, चेतना है, जागृति है, अनुराग है, विराग है, जिज्ञासा है, आशा है, कुतूहल है, नैतिकता है, एकता है, संस्कृति है, प्रकृति है, दूषित मनोभावों को विरेचित करने की क्षमता है, नवीन विचारों को विवेचित करने की उत्तम शैली है, कुल मिलाकर कहा जाए तो इस संग्रह में जीवन के सार तत्व व्याप्त हैं।

लेकिन इस संग्रह को पढ़ते हुए कुछ-कुछ हताशा भी हाथ लगी। साहित्य को समाज के दर्पण के रूप में स्वीकार किया गया है। साहित्यिक विधाएं लघु इतिहास से कम नहीं होती है। साहित्य की अधिकांश रचनाओं में इतिहास के पुट स्पष्ट दिखाई देते हैं। इस संग्रह का प्रकाशन वर्ष 2021 है। यह वह दौर था जब विश्व कोरोना नाम की विश्वव्यापी महामारी से लड़ रहा था और आज भी इससे जूझ रहा है। इस महामारी ने देश-दुनिया को हिलाकर रख दिया, किंतु इस संग्रह को पढ़कर ऐसा लगा कि कहीं कुछ हुआ ही नहीं, हालांकि बसन्त चौधरी ने अपनी भावाभिव्यक्ति में इस महामारी का मोटा-मोटा जिक्र अवश्य किया है, किंतु इस संग्रह की कविताओं को पढ़ते हुए निराशा हाथ लगी। अर्थात इस संग्रह में कोरोना से संबंधित कविताओं का अभाव देखने को मिला। इसके अलावा इस संग्रह में कुछ शाब्दिक त्रुटिया भी रह गई हैं, आशा करता हूं अगले संस्करण में इन्हें दूर किया जाएगा। यदि इस संग्रह की इन महीन कमियों से नज़र हटाकर संग्रह का विश्लेषण किया जाए तो यह कविता संग्रह मानवीय अनुभूति से ओतप्रोत है। यह पाठक व समाज को आत्मचिंतन और आत्ममंथन करने के लिए विवश करता है।

संदर्भ सूची-

1. चौधरी, ब. (2021). वक़्त रुकता नहीं. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 25
2. चौधरी, ब. (2021). वक़्त रुकता नहीं. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 39
3. चौधरी, ब. (2021). वक़्त रुकता नहीं. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 42
4. चौधरी, ब. (2021). वक़्त रुकता नहीं. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 41
5. चौधरी, ब. (2021). वक़्त रुकता नहीं. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 63
6. चौधरी, ब. (2021). वक़्त रुकता नहीं. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 72
7. चौधरी, ब. (2021). वक़्त रुकता नहीं. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 105
8. चौधरी, ब. (2021). वक़्त रुकता नहीं. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 51
9. चौधरी, ब. (2021). वक़्त रुकता नहीं. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 38
10. चौधरी, ब. (2021). वक़्त रुकता नहीं. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 62
11. चौधरी, ब. (2021). वक़्त रुकता नहीं. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 109
12. चौधरी, ब. (2021). वक़्त रुकता नहीं. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 70
13. चौधरी, ब. (2021). वक़्त रुकता नहीं. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 47
14. चौधरी, ब. (2021). वक़्त रुकता नहीं. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 55
15. चौधरी, ब. (2021). वक़्त रुकता नहीं. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 15
16. चौधरी, ब. (2021). वक़्त रुकता नहीं. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 18

डॉ. विरमा कुमारी
सहायक आचार्या, संस्कृत विभाग
स्वामी श्रद्धानन्द कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
दूरभाष- 7289025658
अणु संकेत- virmasharmadu@gmail.com

ऋग्वेद मण्डल-मणि-सूत्र प्रथम मण्डल- स्वास्थ्य एवं विद्या

यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामें अस्मिन्ननातुरम्।[1]

वेदों की दृष्टि इतनी विशाल और व्यापक है कि उसके अनुसार यह सारा संसार एक गाँव है तथा उसके प्रत्येक प्राणी के सुख की कामना की गई है। ऋग्वेद प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त के प्रथम मंत्र में अग्नि को पुरोहित कहा है। पुरोहित शब्द का अर्थ है - आदर्श (Model)। पुरोहित शब्द का सन्धि विच्छेद करने पर, पुरः + हित बनता है। पुरः सामने और हित रक्खा हुआ। आदर्श में से जिस विशेष गुण को आगे रखना है, वह है- आगे बढ़ना। इसलिये वेद का प्रारम्भ 'अग्नि' शब्द से हुआ है। आचार्य यास्क ने अग्रणी अर्थ किया है। अर्थात् आगे ले जाने वाला।

वैदिक पुरोहित कोई साम्प्रदायिक पुरोहित नहीं है क्योंकि वह विशेष चिह्न या वस्त्रों को धारण करता है अथवा किसी विशेष उपासना-स्थल में निवास करता है। वेद के अनुसार पुरोहित वह है जो अग्नि के समान शुद्ध देदीप्यमान है जो यज्ञ करता है, करवाता है अर्थात् परोपकारी है और सबके लिये श्रेष्ठ धन की कामना करता है। ऐसा पुरोहित कहीं भी वन्दनीय है-

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।।[2]

अग्नि सारी सृष्टि का मूलाधार है। यह जल का, वनों का, स्थिर और गतिशील सभी पदार्थों का गर्भ है। वही पर्वतों में है। स्वाधीन और अमृत, वह सब प्रजाओं का सब कुछ है। इस प्रकार की अग्नि की स्तुति में कहा गया है-

त्वमग्ने प्रमतिस्वं पितासि नस्त्वं वयस्कृत् तव जामयो वयम्।।[3]

हे अग्नि ! तू सर्वोत्कृष्ट बुद्धिवाला है, तू ही हमारा पिता है, तू हमारी आयु प्रदान करने वाला है, हम सब तेरी जामि अर्थात् पत्नियाँ है। मैं तो राम की बहुरिया ही चिन्तन कबीरदास के भावों में प्रकट हुआ है। साधना पथ पर चलने वाला साधक भी ईश्वर को अपना 'पति' (स्वामी) मानता है। अग्नि शासक है, उसमें दोनों प्रकार के व्यक्ति एकत्र हो जाते हैं, एक तो वे जो आहुति से युक्त हैं और दूसरे वे जो कामना युक्त सामान्य मनुष्य हैं-

अस्य शासुरुभयासः सचन्ते हविष्मन्त उशिजो ये च मर्ता :।[4]

यह अग्नि उसी प्रकार का शासक है, जैसे कोई ज्ञानी व्यक्ति का शोभन नेतृत्व करने वाला हो-

सुप्रणीतिश्चिकितुषो न शासुः (ऋ. 1/73 /1)

इसका अभिप्राय यह है कि वह केवल शासक नहीं, अपितु नेतृत्व करने वाला भी है। नेतृत्व की विशेषता भी यह है कि वह ज्ञानी जनों का नेतृत्व करता है। यह एक अत्यन्त कठिन कार्य है। स्वामी समर्पणानन्द के मतानुसार ऋग्वेद के प्रायः सभी मण्डलों में कुछ ऐसे विशिष्ट शब्द हैं, जो मानो इन मण्डलों के प्राण हों- ये शब्द केवल उन्हीं मण्डलों में हैं, अन्य मण्डलों में इन शब्दों की पुनरावृत्ति नहीं है। इन विशिष्ट शब्दों के आधार पर ही स्वामी जी द्वारा मणिसूत्रता तैयार की गई है। एक सूत्रता की दृष्टि में स्वामी जी ने प्रथम मण्डल के शब्द बताए हैं- तनूकृत् (1/31/9), ज्योतिष्कृत् (1/50/4), रयिषाट् (1/58/3 और 9/68/8)। स्वामी जी ने तनूकृत् और ज्योतिष्कृत् के अर्थ किये हैं- शरीर का बनाने वाला और ज्योति अथवा ज्ञान का प्रथम स्रोत। प्रथम मण्डल में ये शब्छ अग्नि के लिये प्रयुक्त हुए हैं जिनका स्पष्ट अभिप्राय- शारीरिक स्वास्थ और विद्योपार्जन से है। ईश्वर की इस सृष्टि में इन्हीं दो तथ्यों की प्रधानता है- दृढ़ता और प्रकाश की। जो पुरोहित अग्नि प्रथम मण्डल की प्रथम ऋचा में निर्दिष्ट है, वह फिर अन्तिम (दशम) मण्डल की प्रथम सूक्त के पहले मंत्र में भी इसी प्रकार के शब्दों में सम्बोधित है- **निर्जगन्वान् तमसो ज्योतिषाऽऽगात्।**

यह अग्नि अन्धकार से हटाकर हम को ज्योति या प्रकाश के प्रांगण में लाता है। किसी भी प्रकार हम अन्धकार से बाहर निकलकर ज्योतिर्मय जीवन में प्रविष्ट हो सकें। यहाँ अन्धकार से प्रकाश की ओर अथवा अज्ञान से ज्ञान की ओर बढ़ने का अर्थ है। यह प्रयोजन द्वेष और प्रतिहिंसा की भावनाओं का उन्मूलन करके ही सिद्ध हो सकेगा। **रयिषाट्-** ज्ञान और शारीरिक बल के आधार पर कमायी गई सम्पत्ति भोग तथा संचय मात्र के लिये नहीं है। आदर्श व्यक्ति का स्वास्थ्य (शारीरिक बल) और उसकी सम्पत्ति जन-सेवा के लिये हो, तो ऐसे ही विश्व नागरिक को हम 'रयिषाट्' कह सकेंगे। रयि या रायः शब्दों के मूल में दानार्थक रा धातु विद्यमान है। श्रुति का कथन है कि दान देने वाले तथा दूसरों की सहायता करने वाले व्यक्ति के पास, उसके यश का विस्तार करती हुई उत्तम पदार्थ की धाराएँ सब ओर से पहुँचती हैं अर्थात् दान देने वाले का यश तो बढ़ता ही है, उसकी समृद्धि में भी कमी नहीं आती है-

पृणन्तं च पपुरि च श्रवस्यवो घृतस्य धारा उपयन्ति विश्वतः।[5]

इसी प्रकार दूसरी ऋचा में उद्धृत है कि दानी व्यक्ति न तो दुर्गति को प्राप्त हो, न कष्ट (दुःख) को प्राप्त करे। अच्छे नियमों वाले बुद्धिमान व्यक्ति जीर्ण न हों, विपत्ति में न पड़ें। ऐसे व्यक्तियों की परिधि अर्थात् यश तथा सुख की सीमा और अधिक विस्तृत हो और जो दान नहीं देता उसके पास ही सब शोक या दुःख जाऐं। स्वामी जी ने शारीरिक पुष्टि हेतु अग्नि का विशेषण 'पुष्टिवर्धन' का उल्लेख अपने सूत्र में किया है। यह प्रथमा विभक्ति एकवचन वाला शब्द प्रथम मण्डल की ऋचाओं में ही दृष्टव्य है, अन्यत्र नहीं। मन्त्र इस प्रकार हैं-

यो रेवान् यो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः। स नः सिषक्तु यस्तु रः।।[6]

अर्थात् जो ब्रह्मणस्पति धन के स्वामी, रोग निवारण करने वाले, सम्पत्ति दात्ता, पुष्टिवर्धक एवं शीघ्र फल देने वाले हैं वे हम पर कृपा करें।

त्वमग्ने वृषभः पुष्टिवर्धनः उद्यतस्रुचे भवसि श्रवाय्यः।
य आहुतिं परि वेदा वषट्कृतिमेंकायुरग्रे विश आविवाससि।।[7]

हे अग्नि ! तुम अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले हो, यजमान को धनादि से पुष्ट करते हो, जो यजमान यज्ञपात्र उठाते हुए तुम्हारा यश गाता है और वषट्कार शब्द के साथ तुम्हें आहुति देता है, तुम उसे पहले प्रकाश देते हों, उसके बाद सारे संसार को।

गयस्फानो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः। सुमित्रः सोम नो भव।।[8]

हे सोम ! तुम हमारे धनवर्द्धक, रोगनाशक, सम्पत्तिदाता, सम्पत्ति बढ़ाने वाले सुमित्र बनो। प्रस्तुत तीनों मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय है। प्रथम मन्त्र में ब्रह्मणस्पति, दूसरे में अग्नि और तीसरे में सोम। तदनुसार स्पष्ट होता है कि राज्य के राजा ब्रह्मणस्पति, अग्नि अर्थात् पुरोहित तथा सोम अर्थात् गुरुकुल के आचार्य। इन तीनों का कार्य मनुष्य की शारीरिक पुष्टि में वृद्धि बताया गया है। ऐसा ही कथन प्रथमसूक्त के तीसरे मंत्र में है-

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेंव दिवेदिवे। यशसे वीरवत्तमम्।।[9]

हम अग्नि द्वारा इस प्रकार का धन प्राप्त करें, जो दिनों-दिन पुष्टि देने वाला हो, यशोवर्धक हो तथा हमें वीरों से युक्त बनाने में सर्वश्रेष्ठ हो। दीर्घ जीवन प्राप्ति के लिये जीवन को संयमित और अनुशासित करना बहुत जरूरी होता है। यह नियम सुनने में सरल प्रतीत होते हैं किन्तु इनका पालन कठिन है। इस बात का स्पष्टीकरण 89 वें सूक्त के 8वें और 9वें मन्त्र में दिया गया है-

भद्रं कर्णेभिः शृणुयामदेवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनुभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।।[10]

हे पूजनीय (यजत्राः) देवो! हम अपने कानों से कल्याण कारक वचन सुनें, हम अपनी आखों से शोभन वस्तु देखें। दृढ़ हस्त - चरण आदि वाले शरीर से आपकी स्तुति करते हुए देवों द्वारा निर्धारित या देवों के लिये हितकर, जो आयु है उसे प्राप्त करें। कर्णेन्द्रियाँ तथा नेत्रेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियों में प्रमुख है। यहाँ वाक् (वाणी) की बात नहीं की गई है, परन्तु वह स्वयं सिद्ध ही है। जब बुरा न सुनेंगे, न देखेंगे तब भला बुरा क्यों बोलेंगे? प्रस्तुत मंत्र के संदेश को, बुरा न सुनना, बुरा न देखना और बुरा न बोलना भारत की आजादी के समय में महात्मा गाँधी ने अपने जीवन में ग्रहण किया तथा समाज के लोगों को भी प्रेरित किया। सन् 1990 के दशक में एक गीत भी इसी संदेश के आधार पर हिन्दी फिल्म में बनाया गया था। यह विचार, भाव धारा वैदिक समय से निरन्तर प्रवाहित हो रही है। इस नित्य नवीन चिन्तन की समाज को आज भी आवश्यकता है। जब मनुष्य का मन और तन (शरीर) स्वस्थ होगा, तब उसका जीवन दीर्घायु बनेगा। यह आयु क्या है, इस बात को अगली ऋचा में बताया हैं-

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसे तनूनाम्।

पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मानो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः।।[11]

हे देवो! आपने मानवों की आयु सौ वर्ष निश्चित की है। इसी काल में आप हमारे शरीर में वृद्धावस्था (जरसे) उत्पन्न करते हैं। उस अवस्था में पुत्र हमारे रक्षक (पितर) बन जाते हैं। हमें इस प्रकार का साधना - बल दो, जिससे हमारी आयु का रथ जीवन रूपी यात्रा में, (चलने में) कहीं अटक न जावें। स्वस्थ एवं प्रसन्न जीवन हेतु खेल (क्रीड़ा) की आवश्यकता है। यह बात वैदिक युग में मान्य थी-

नित्यं न सूनुं मधु बिभ्रत उप क्रीडन्ति क्रीडा विदथेषु घृष्वयः।

नक्षन्ति रुद्रा अवसा नमस्विनं न मर्धन्ति स्वतवसो हविष्कृतम्।[12]

प्रस्तुत मंत्र में 'क्रीड़ा' शब्द का देवताओं के सन्दर्भ में प्रयोग हुआ है। उस युग में खेलों को महत्त्व दिया जाता था। खेल के लिये उम्र अथवा लिङ्ग का बन्धन भी नहीं था। तभी तो वीर मरुतों को क्रीड़ाभाव से खेलते हुए यहाँ दर्शाया है। यह खेलना मात्र मनोरंजनार्थ ही नहीं है। अपितु जीवन के किसी भी उत्तरदायित्व को हँसते-खेलते किया जाएँ तो ऊर्जा भी व्यर्थ नहीं जाती तथा उत्साह भी बढ़ता है। सच्ची खेल-भावना खिलाड़ी को सबकी सहायता करने की प्रेरणा देती है। खेल-भावना के अन्तर्गत घुड़ दौड़ (अर्वता कार्ष्म जयन्ती) का प्रसंग एक मंत्र में दृष्टव्य है-

आ वां रथं दुहिता सूर्यस्य कार्ष्मेवातिष्ठदर्वता जयन्ती।

विश्वे देवा अन्वमन्यन्त हृद्भिः समु श्रिया नासत्या सचेथे।।[13]

प्रस्तुत मंत्र का भाव यह है कि वैदिक काल में घुड़-दौड़ का आयोजन होता था। यह खेल रूप में मनोरंजन के लिये तथा प्रतियोगिता रूप में भी होता था। इस खेल में धन सम्पत्ति उपहार-रूप में विजयी को मिलती थी। एक उद्देश्य विवाह का भी था, जिसमें विवाह के प्रत्याशी घोड़ों पर दौड़ लगाते थे। घुड़दौड़ बाहर खेला जाने वाला खेल (Out door game) है। इसमें भाग लेने वाले की चतुराई, निपुणता, शारीरिक बल सबकी परीक्षा हो जाती है। घोड़ा वास्तव में सभी पशुओं में सबसे अधिक गतिशील पशु है। यही कारण है कि इससे सम्बद्ध खेल-क्रीड़ाएँ (प्रतियोगिताएँ) प्राचीन काल से लेकर आज तक गतिमान है। स्वास्थ्य बल ऊर्जा के लिए ऐसे खेलों को यथासम्भव अपनाना चाहिए। स्वामी समर्पणानन्द ने ऋग्वेद मण्डल मणि - सूत्र के प्रथम मण्डल में एक अद्भुत तथ्य को उजागर किया है। सूक्त 165 से 190 तक के 21 सूक्तों के अन्तिम मंत्र में एक ही टेक प्रयुक्त हुई हैं- **विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्।।** अर्थात् हम, बल, अन्न और जयशील दान प्राप्त करें। [165/15; 166/15; 167/11; 168/10; 169/8; 171/6; 173/13; 174/10; 175/6; 176/6; 177/5; 178/5; 180/10; 181/9; 182/8; 183/6; 184/6; 185/11; 186/11; 189/8; 190/8]

सूक्त 187वें में 'पितु' अर्थात् अन्न की स्तुति हुई है जिसे खाने वाले को कहा है कि खाकर पूरी मेहनत (परिश्रम) भी कर और हे (वातापे) सदा गति - व्यस्त, व्यायामशील (पीव इद् भव) खूब मोटा - ताजा बन। इसी प्रकार सूक्त 188 वें में (सहस्रिणी: इषः) हजारों बोरों में (एक बोरे में 100 किलो) भरे अन्न की प्रार्थना है और कहा (स्फातिमा यज) हमारा डील - डौल खूब विशाल कर दें। सूक्त 191 वाँ प्रथम मण्डल का आखिरी सूक्त है, उसमें शतायु होने में बाधक सब प्रकार के विष-नाश का उपाय विद्यमान है, जिसमें सबसे मुख्य स्थान सूर्य - किरणों का है-

उत्पुरस्तात्सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।

अदृष्टान्त्सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यः।।[14]

सारे संसार को देखने वाले एवं अदृष्ट विषधरों को नष्ट करने वाले सूर्य पूर्व दिशा में निकलते हैं। वे सभी अदृष्ट विषधारियों एवं राक्षसों को भयभीत करके भगा देते हैं। प्रस्तुत मन्त्रों के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हुई है कि प्रथम मण्डल के सूक्तों का मुख्य विषय 'स्वास्थ्य की उन्नति' है। स्वामी जी ने प्रथम मण्डल में ही प्राप्त होने वाले ज्ञान अथवा विद्या शब्दों को उद्धृत किया है। वे शब्द हैं- ज्योतिषकृत्, ज्योतीरथम्, ज्योतिषाम्, ज्योतिष्मत्, ज्योतिष्मती और ज्योतिष्मतीम्। विद्या को विद्यार्थियों तक, विद्यालय तक पहुँचाने वाले हे अश्विनौ। जो

ज्योतिष्मती इष् अर्थात् ज्योतिष्मान् अन्न हमें पार उतार कर अन्धकार से परे पहुँचा दें, वह हमें दो। कारण वह अन्न दरिद्रता रूपी अन्धकार (अज्ञान) को मिटा कर तृप्ति प्रदान करता है -

या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः।। तामस्मे रासाथामिषम्।[15]

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के 50वें सूक्त का चतुर्थ मन्त्र में सूर्य के दृष्टान्त से राजा को कहा है कि हे राजन्। तू इस संसार को तारने वाला है। अपनी प्रजा को विश्व अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान का दर्शन कराता है। तू ज्योति की उत्पत्ति कराने वाला है। हे सूर्य! तू अपनी किरणों से जगत् को रोचक (रुचिकर) बना देता है -

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमा भासि रोचनम्।।[16]

जिस ज्ञान के बल से लोग उस परम सूर्य परमात्मा तक पहुँचते हैं। उसके लिए यह ज्योतिष्कृत् शब्द प्रथम मण्डल में ही आया है। ज्ञान-प्रकाश की ओर प्रसङ्ग में 113 वें सूक्त के प्रथम मंत्र में पुनः निर्देश है- **इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागात्।** यह (उषा उदित हुई) ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति का उदय हुआ है। यदि यहाँ केवल स्थूल अन्धकार तथा स्थूल प्रकाश का वर्णन होता, तो उषा के लिये सर्व्ववीरा (18वाँ मंत्र) समस्त शूरों से युक्त तथा विश्ववारे (19वाँ मंत्र) हमें संसार में प्रसिद्ध बनाओ, ये सम्बोधन प्रयोग में न आते। इसी प्रकार सूक्त 136 वें का तीसरा मन्त्र मित्र तथा वरुण को अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय को सम्बोधन करके कहा है-

ज्योतिष्मतीमदिति धारयत् क्षितिम् स्वर्वतीम्,

आसचेते दिवे-दिवे जागृवांसा दिवे-दिवे।

ज्योतिष्मत् क्षत्रमाशाते आदित्या

दानुनस्पती मित्रस्तयोर्वरुणो यात यज्जनोऽर्यमा यातयज्जनः।।[17]

इस पृथिवी पर निवास करने वाली प्रजा को ज्योतिष्मती-ज्ञान-प्रकाशवती अदिति अर्थात् अखण्ड उत्साह वाली और सुख-सम्पन्न (स्वर्वती) बना - बनाकर धारण करते हुए प्रतिदिन राष्ट्रहित में जागरूक ब्राह्मण तथा क्षत्रिय परस्पर सहयोग से काम करते हैं। सत्पुरुषों की संगति द्वारा सबके कल्याणार्थ सत् ज्ञान प्राप्त करना, सद्व्यवहार सीखना, उन्नत शिल्प, उन्नत उद्योग, उन्नत विज्ञान में प्रवृत्त होना भी यज्ञ के समान है यदि उसमें क्षुद्र स्वार्थ का त्याग किया जाए। इसीलिए प्रार्थना है कि हमारी सरस्वती, हमारी विद्या पवित्र हो-

पावका नः सरस्वती यज्ञं वष्टुधियावसुः।

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती।।[18]

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के 91वें सूक्त में गुरुकुल के आचार्य के रूप में सोम का वर्णन हुआ है- त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ (1/91/ 22)। हे सोम ! तूने सदैव ज्योति के द्वारा अन्धकार को दूर किया है। इसी सूक्त के प्रथम मंत्र में सोम के कार्यों को विस्तृत रूप में बताया है।

त्वं सोम प्रचिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम्।

तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः।।[19]

अर्थात् हे सोम! तू प्रकृष्ट मनीषा का प्रकाश करता है। तू ज्ञान के देदीप्यमानतम मार्ग पर हमें ले जाता है। हे विद्यारस से सबको स्नान कराने वाले इन्दो ! (आचार्य) तेरे मार्ग-दर्शन द्वारा ही धीर जन विद्वानों में बैठकर ज्ञान के छिपे रत्न प्राप्त करते रहे हैं। स्वामी समर्पणानन्द ने सोम जो ज्योति प्रदान करता है। उसके फल से सम्बद्ध ऋचा का उल्लेख किया है-

सोमो धेनुं सोमो अर्वन्तमाशुं सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति।

सादन्यं विदध्यम् सभेयम् पितृश्रवणं यो ददाशदस्यै।।[20]

जो सोम के लिये भक्ति - पूर्वक दान करता है। गुरुकुल का आचार्य सोम उसे पशुपालन- विद्या सिखाकर दूध देने वाली गाय, सुशिक्षित, नियम में सधा हुआ घोड़ा (अर्वा) तथा कर्मठ व्यवहार-कुशल, युद्ध कुशल, सभा-कुशल, आज्ञा-पालक वीर (सन्तान) देता है। प्रस्तुत मंत्र में कर्मण्यं वीरं ददाति वाक्य तथा सादन्यम्, पितृश्रवणम्, सभेयम् ये विशेषण ऋग्वेद में अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। संतान के लिये पूर्ण सुख-सुविधा, शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करना प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है। यद्यपि वेद में अनेक स्थानों पर 'दशवीरा जयेम' जैसे वाक्यों में दस पुत्रों की कामना अभिव्यक्त हुई है, तथापि दूसरी ओर कहा गया है कि बहुत संतान वाले कष्ट में प्रवेश करते हैं- बहु प्रजा निर्ऋतिमाविवेश। इसके मूल में यही भावना प्रतीत होती है कि जिसमें संतान के सुचारू पालन-पोषण की क्षमता हों, केवल वही व्यक्ति अधिक सन्तान प्राप्त करें, अन्यथा कष्ट में पड़ जायेगा और समाज को भी जैसे व्यक्ति अपेक्षित हैं वैसे नहीं बन पाएंगे। समाज के लिये एक ओर जहाँ विद्या में पारंगत विद्वान चाहिए, तो दूसरी ओर शत्रु का नाश करने वाले बलिष्ठ पुरुष भी आवश्यक है।

प्रथम मण्डल के 140 वें सूक्त के प्रथम मंत्र में अग्नि के ज्योतीरथम् तथा तमोहनम् विशेषण प्राप्त होते हैं। इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण का रथ जहाँ जाता है वहाँ ज्योति साथ जाती है। अन्धकार दूर होता है। भारतीय संस्कृति ज्योति की उपासिका है। ज्योति नाम है- जीवन का, प्राण का, गति का और विकास का। इसके विपरीत अन्धकार मृत्यु का, गतिहीनता का तथा नाश का प्रतीक है। प्रकृति में ज्योति और अन्धकार की लीला चलती रहती है। चिरकाल से रात्रि के अन्धकार को दूर करती उषा सूर्य के आगमन का संदेश देती रही है। सूर्य का काल जीवन दायिनी प्राणवायु के बहने का काल है। इस काल में उठकर सूर्यदर्शन करने से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य में वृद्धि होती है-

उदीर्ध्वम् जीवो असुर्न आगादप प्रागात् तम आ ज्योतिरेति।

आरैक् पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः।।[21]

सहायक ग्रंथ-

1. विद्यालङ्कार, बुद्धदेव. (1964). ऋग्वेद मण्डल-मणि-सूत्र. नई दिल्ली: समर्पण शोध-संस्थान.
2. सक्सेना, प्रवेश. (2016). ऋग्वेद: युवाओं के लिए. नई दिल्ली: आर्य प्रकाशन मंडल.
3. शर्मा, गंगा सहाय. (2016). ऋग्वेद. नई दिल्ली: संस्कृत साहित्य प्रकाशन.
4. कृष्णलाल. (1993). वेद परिचय. नई दिल्ली: हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय.

अंश कुमार
शोधार्थी, बौद्ध अध्ययन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
संपर्क सूत्र : 9810592188
ईमेंल पता : ansh2592@gmail.com

पंजाब में बौद्ध स्थापत्य कला और पुरातात्विक स्थलों का अध्ययन

शोध सार : प्राचीन पंजाब के धार्मिक इतिहास में बौद्ध स्थापत्य कला का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। बौद्ध स्थापत्य कला का विकास भारतीय भूमि पर हुआ है। मौर्य शासक अशोक के शासन काल में एक नवीन निर्माण शैली का विकास हुआ जिसने बौद्ध वस्तुकला को प्रोत्साहित किया। इसके अंतर्गत धम्म अभिलेख, स्तभ और बौद्ध स्तूप व विहार चैत्य आदि को प्रोत्साहन मिला। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार अशोक को 84000 स्तूपों के निर्माण का श्रेय दिया जाता है तथा वहीं कुषाण कालिन शासक कनिष्क काल में भारतीय वस्तुकला की एक नवीन निर्माण शैली का विकास हुआ। अनेकों बौद्ध स्तूपों व विहारों को बौद्ध वास्तुकला व मूर्ति कला से सुशोभित किया जाने लगा, स्तूपो में प्रतिमाएँ स्थापित की जाने लगी। उसी का परिणाम है कि बौद्ध धर्म अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका बौद्ध स्थापत्य कला तथा मूर्तिकला की भी रही है। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में मूर्तिकला व स्थापत्य कला आदि की भूमिका सराहनीय रही है। बुद्ध तथा अनेक धर्म को समझने के लिए बौद्ध स्थापत्य कला व मूर्तिकला को समझना अति आवश्यक है क्योंकि बुद्ध से सम्बन्धित स्थलों व प्रतीकों को कला के माध्यम से वास्तुकला में स्थापित किया गया है पंजाब के विभिन्न स्थलों से इसके निशान मिलते हैं। बौद्धकला की दृष्टि से संघोल एक महत्त्वपूर्ण स्थल है। किन्तु भारत के पश्चिमी सीमा क्षेत्र से पंजाब में निरंतर विदेशी आक्रमण होते रहे हैं। जिसके परिणाम स्वरूप पंजाब के बौद्ध स्मारकों की सबसे अधिक क्षति हुई है जिनके अवशेष पंजाब के अनेक हिस्सों से प्राप्त होते हैं जो बौद्ध विरासत की महत्त्वपूर्ण देन है।

मुख्य शब्द: स्थापत्य कला, मूर्तिकला, वास्तुकला, वेदिका स्तंभ, बौद्ध स्तूप, धर्म चक्र स्तूप, संघाराम, गांधार कला, मथुरा कला, शालभंजिकायें, यक्षणी।

प्राचीन भारतीय धार्मिक परम्परा में बौद्ध धर्म एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसने भारत ही नहीं, बल्कि समय-समय पर अन्य देश से आये विदेशियों के लिए भी अपने दरवाजे खोल दिये, जिससे देश व विदेश के सभी वर्ग के लोग सत्य और अहिंसा का लाभ उठा सकें। चार आर्य सत्य आर्य अष्टागिक मार्ग बौद्ध धर्म के प्रमुख सिद्धान्त हैं। बौद्ध धर्म का उद्भव छठी शताब्दी ई.पू. की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। वर्तमान समय में एशियाई देशों की अधिकांश जनसख्या बौद्ध धर्म को मानने वाली है जिनका प्रमुख धर्म बौद्ध धर्म है। पंजाब में बौद्ध धर्म का इतिहास बहुत ही प्राचीन है। युद्ध के काल में ही वृहद पंजाब के निवासी बलख (पेशावर गांधार) के निवासी 'तपस्सु और 'भल्लिक' नामक दो व्यापारी व्यापार करके उत्तरापंथ मार्ग के माध्यम से उड़ीसा से बोधगया पहुँचे भगवान बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्ति किये हुए केवल सात सप्ताह ही बीते थे कि इनकी मुलाकात बुद्ध से बोधगया में हुई। व्यापारियों ने बुद्ध को खाने के लिए प्रथम आहार 'मधुपिण्ड' का भोजन दिया। दोनों ने बुद्ध की शरण ग्रहण की वह उनके पहले ग्रहस्थ-श्रावक बने। इन्होंने केवल दो ही ग्रहण किये थे। इसलिए इन्हें द्विवायिक शिष्ट कहा गया है।[1]

इसी दौरान कश्मीरी मूल का पतली ऊँची नाक वाला गांधार निवासी 'कप्फिन' नामक एक माणवक इसी मार्ग से राजगृह पहुँचा। राजगृह के वेणुवन में उसने भगवान बुद्ध के उपदेश सुने, वह वहीं प्रवजित होकर बौद्ध भिक्खुसंघ में शामिल हो गया और बृहद-पंजाब' का वह प्रथम बौद्ध भिक्षु हुआ।[2] एक मान्यता के अनुसार भगवान बुद्ध ने प्राचीन पंजाब के कुरुरठ का भ्रमण किया कुरु के कमासदम्म में चारीका करते हुए बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार किया था। दीघनिकाय, अंगुतर निकाय आदि ग्रंथों में बुद्धकालीन 16 महाजनपद का वर्णन किया गया है जिनमें बृहद-पंजाब के तत्कालीन महाजनपदों में तक्षशिला महाजनपद[3] कम्बोज और कुरुमहाजनपद की गणना बृहद पंजाब में की जाती है जो उस काल में बौद्ध धर्म के प्रमुख केन्द्र थे। करु महा जनपद के 'कम्मास धम"[4] में बुद्ध ने सतीपप्ठान सूत का प्रवचन दिया था। इस तरह पंजाब में बौद्ध धर्म का सम्बन्ध बहुत ही प्राचीन है। पंजाब में बौद्ध धर्म का इतिहास लगभग दो हजार साल पुराना है। आधुनिक भारत में हुए उत्खननों से पता चलता है कि प्राचीन समय में पंजाब का प्रमुख धर्म बौद्ध धर्म ही था जिसके पुरातात्विक व साहित्यिक साक्ष्य भी उपलब्ध होते है। संघोल नामक बौद्ध स्थल 1985 की खोज से बौद्ध धर्म के अतीत व अस्तित्व का पता चलता है। इस पुरातात्विक स्थल ने बौद्ध जिज्ञासुओं का ध्यान आकर्षित किया है जो पंजाब में बौद्ध धर्म के संदर्भ पर प्रश्न चिह्न लगाता है? क्या वर्तमान समय में पंजाब में बौद्ध धर्म का अस्तित्व है? या पंजाब से बौद्ध धर्म का ह्रांस कैसे हुआ? आदि प्रश्नों का उत्तर दिया जाना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि वर्तमान पंजाब की अधिकांश जनसंख्या सिख धर्म से सम्बन्धित है।

इस शोध पत्र में विभिन्न पुस्तकों या दस्तावेजों और पुरातात्विक स्थलों और शोध लेखों आदि का विश्लेषण करके पंजाब में बौद्ध धर्म प्राचीन और वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। प्राचीन पंजाब का धार्मिक इतिहास गौरवपूर्ण रहा है, क्योंकि भारतीय सभ्यता व संस्कृति की जननी पंजाब ही है। अगर वही तथागत भगवान बुद्ध के जीवन पर प्रकाश डाले तो पता चलता है कि लुम्बिनी वन वर्तमान समय के रुम्मनदेई नेपाल से शुरू होकर मगध सम्राज्य से होते हुए आज के उत्तर प्रदेश कुशीनगर में विराम देता है। लेकिन भगवान बुद्ध की शिक्षाएँ सरहदों की बंदीशों को तोड़कर अनेक देशों को आज भी सत्य और अहिंसा का पाठ पढ़ा रही है। इसके पीछे मौर्य शासक अशोक के साथ-साथ पंजाब की धरती यहाँ की आबो-हवा एवं तत्कालीन शासकों का बहुत बड़ा योगदान रहा है जिसके पुरातात्विक व साहित्यिक साक्ष्य भी इसी तरफ इशारा करते हैं। भारतीय स्थापत्य कला के इतिहास में मौर्य सम्राट अशोक ने नई निर्माण शैली का विकास किया, जिनमें धम्म अभिलेख, स्तंभ, बौद्ध विहार, बौद्ध चेत्य व स्तूप महास्तूप आदि निर्माण की परम्परा को प्रोत्साहित किया। बौद्ध साहित्यों के अनुसार अशोक ने अपने शासन काल में 84000 बौद्ध स्तूपों का निर्माण कराया[5] जिनके भग्नवशेष पंजाब के विभिन्न हिस्सों से मिलते हैं। इनमें प्रमुख प्राचीन बौद्ध नगर संघोल व जालंधर, तोपरा शामिल हैं।

संघोल के बौद्ध स्थापत्य कला और पुरातात्विक स्थल

पंजाब में बौद्ध धर्म की सबसे महत्त्वपूर्ण खोज संघोल बौद्ध स्थल की खुदाई है। संघोल एक ऐतिहासिक स्थल है जो पंजाब के फतेगढ़ साहिब जिले में स्थित है जिसे आधुनिक समय में ऊँचा पिण्ड संघोल के नाम से जाना जाता है। यह स्थल चण्डीगढ़, लुधियाना राज्य मार्ग पर स्थित है। चण्डीगढ़ से इसकी दूरी मात्र 40 किलोमीटर पश्चिम दिशा की ओर स्थित है।[6] इस स्थल का इतिहास उत्तर हड़प्पा सभ्यता से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के जहाँगीर काल तक जाना जाता है।[7] इस स्थल का सर्वप्रथम साहित्यिक उल्लेख "कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तीन खाईयों में किले बंदी द्वारा किया गया है।"[8] प्राचीन भारत में बड़े नगरों के चारों ओर परिखा तथा रक्षा प्राचीर बनाने

की परम्परा थी। अर्थशास्त्र के साथ-साथ मेंगान्थनीज के विवरणों से इसकी पुष्टि होती है। बौद्ध जातकों में 'त्रिर्गत'[9] राज्य का वर्णन आया है। जिसकी पहचान जालंधर तथा संघोल से की जाती है। सातवीं शताब्दी में भारत आए चीनी यात्री ह्वेनसांग के यात्रा विवरणों में शी-तो-तू-लू[10] नाम का उल्लेख मिलता है जिसकी पहचान संघोल से की जाती है। संघोल से बौद्ध धर्म से संबंधित जिनमें बौद्ध महा विहार, धर्म चक्र स्तूप, स्तम्भ, सिक्के, मोहरें, वास्तुकला, बौद्ध भिक्षु के अस्थित अवशेष आदि संबंधित साक्ष्य प्राप्त हुए है। सर्वप्रथम इस स्थल का उत्खनन "20 दिसम्बर 1968 ई. में आर.के. बिष्ट द्वारा किया गया।"[11] और 1985-1990 के दशक के दौरान डॉ. सी. मार्गबन्धु के नेतृत्व में भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण तथा पंजाब के पुरातात्विक विभाग के द्वारा उत्खनन कार्य किया गया। उत्खनन के विभिन्न चरणों में सम्राट अशोक द्वारा निर्मित बौद्ध स्तूप के भग्नावशेष प्राप्त हुए जिनका कुषाण काल में पुनः निर्माण करवाया गया था। स्तूप के अंदर से मथुरा तथा गांधार कला से संबंधित कुषाण कालीन 117 वेदिकाओं की शिल्प कृतियाँ मिली है जिनमें 69 वेदिका स्तंभ (रलिंग पिलर), 35 सूची पट (क्रास वार), 13 मृद मूर्तियाँ प्राप्त हुई।[12] आगरा, मथुरा, फतेहपुर सीकरी के निकटवर्ती इलाकों में पाये जने वाले लाल बलुये पत्थर से निर्मित यह वस्तुखण्ड या मूर्तिया प्रथम एवं द्वितीय शताब्दी ई. की कुषाण कालीन मूर्ति शिल्प की परिचायक है जो मथुरा कला केन्द्र का प्रतिनिधित्व करती है। किन्तु साथ में ही गांधार कला केन्द्र का प्रभाव इन में साफ दिखाई देता है। इन पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि संघोल प्राचीन भारतीय बौद्ध स्थापत्य कला और सभ्यता व संस्कृति को संजोये हुए हैं। यहाँ से मौर्य, शुग, कुषाण, गुप्त, मिहिरकल, हूण, इंडयो ग्रिक आदि शासकों से संबंधित वस्तुएँ प्राप्त हुई है जिससे यह कहा जा सकता है कि यह स्थल संघोल छः कालखण्ड युगों का गवाह रहा है।

संघोल का पुरातात्विक महत्त्व

संघोल अपने पुरातात्विक अवशेषों के लिए विश्व प्रसिद्ध है। 1933 ई. में ही इस बौद्ध स्थल की पहचान हो चुकी थी।[13] लेकिन इसका वास्तविक उत्खनन 1968 ई. में पंजाब पुरातात्विक विभाग के तत्कालीन निर्देशक आर.के. बिष्ट द्वारा किया उत्खनन के लिए 14 टिलों की पहचान की गई जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण टीला SGL-5, SGL-11 तथा हाथीवाड़ा पुरास्थल है। SGL-5 टीले के उत्खनन में एक विशाल वृत्ताकार बौद्ध स्तूप के अवशेष प्राप्त हुए है। इस स्तूप के निर्माण में पक्की ईट की दीवारों से चिनाई करवाई गई और अंतवर्ती भाग को मिट्टी और कंकड़ो से भर दिया गया था। स्तूप के प्रक्षिणा-पथ तक जाने के लिए चूने-प्लास्टर का एक चबूतरा बनाया गया और पहुँच मार्ग के लिए चारों ओर से सोपान-श्रृंखला बनाई गई थी। स्तूप देखने में धर्म चक्र की तरह दिखता है इस चक्र के अंदर तीन गोले है, जिसमें पहला छोटा, दूसरा उससे बड़ा तथा तीसरा सबसे बड़ा बना है। उसमें समान अनतराल की दूरी पर तीलियों के समान ईट की पक्की चिनाई की गई है। स्तूप के अंदर से एक बौद्ध भिक्ष्यु के अस्थि अवशेष प्राप्ति हुई है। ऐसा माना जाता है कि इसमें बुद्ध की अस्थियाँ रखी गई थी[14] साथ ही कुछ ही दूरी पर एक अस्थि अवशेष का ढकन प्राप्त हुआ है जिसमें खरोष्टी लिपि में एक लेख उत्कीर्ण है जिस पर 'अभेनद' लिखा हुआ है।[15] इसी स्तूप के उत्तर पूर्व दिशा में एक संघाराम के अवशेष भी प्राप्त हुए है। तथा धर्मचक्र सतूप के आस-पास बहुसंख्यक संख्या में मन्नत वाले छोटे स्तूप प्राप्त हुए है। जो इस बात के साक्षी है कि संघोल कुषाण काल में साची, बौद्ध गया, अमरावती, सारनाथ के स्तूपों के समान ख्याती प्राप्त थी SGL-11 के उत्खनन में एक 39 मीटर लम्बा और 36 मीटर चौड़ा संघाराम भी प्राप्त हुआ है। इसके केन्द्र में एक बौद्ध स्तूप भी प्राप्त हुआ है। जो एक वर्गाकार चबूतरे पर बनाया गया प्रतीत होता है। इस स्तूप के उत्खनन से 'किले बंदी के प्रमाण मिलते हैं हाथीवाड़ा पुरास्थल के उत्खनन में आवासी गृह है और इस किले के तीनों तरफ खाई के प्रमाण भी मिलते है

जिससे यह प्रतीत होता है कि इस नगर की बाहरी आक्रमणकारियों से सुरक्षित रखने के लिए किलेबंदी के द्वारा घेरा गया था।

संघोल- संघोल भौगोलिक रूप से प्राचीन व्यापारिक मार्ग उत्तरापंथ पर स्थित है यह मार्ग इन्द्रप्रस्थ रोहितिक और संघोल से होकर तक्षशिला और मथुरा संघोल, सुनेट फिल्लेर, जालंधर होकर गुजरता था। इन स्थलों की इस व्यापारिक मार्ग पर होने के कारण कला, स्थापत्य कला एवं धार्मिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान था। यह मार्ग व्यापार तथा यातायात के साथ-साथ कुषाण काल में धर्म व बौद्ध कला का प्रमुख मार्ग था जिस पर व्यापारिक कार्य चलता था। संघोल की वस्तुकला-संघोल की वस्तुकला की दृष्टि से विशेष महत्त्व रहा है। फरवरी 1985 ई. के पुरातात्विक उत्खनन के दौरान यहाँ से मूर्तियों का एक बड़ा खजाना प्राप्त हुआ। यह वस्तुकला स्तूप की वेदिका है जिन पर यक्ष, शालभंजिकाएं, यक्षिणी तथा नारी रूपी का सुन्दर अलंकार उत्कीर्ण किया गया है। इनमें 69 वैदिक स्तम्भ 35 सूचीपट्ट है जो मथुरा शिल्प कला के समान लाल बलुये पत्थर पर उत्कीर्ण है। इसकी पहचान प्रथम एवं द्वितीय शताब्दी ई. के कुषाण काल के मथुरा शिल्प का प्रतिनिधित्व करती है। साथ ही गांधार शिल्प कला का भी प्रभाव इन पर स्पष्ट परिलक्षित होता है संघोल से प्राप्त मूर्तियाँ नारी प्रधान मूर्तियाँ जिनमें शारीरिक सुडोलता स्तनी की स्थूलता विविध क्रीड़ा प्रियता और अंग भंगिकाओं की मोहकता दर्शनीय है। स्तूप के चारों ओर भूतल और प्रथमतल पर प्रदक्षिणा पथों का निर्माण रेलिंग (वेदिका) द्वारा बनाया जाता था। ऐसे सज्जित 'प्रदक्षिणा पथ साची के स्तूपों में आज भी स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं।

कुषाण काल में मथुरा तथा उसके आस-पास पंजाब के अनेक नगरों में ऐसे ही स्तूपो का निर्माण किया गया था। शिल्पकारों ने इन वेदिका-स्तंभों के अलकरण में कुषाण कला का भरपुर उपयोग किया गया है। स्त्री पुरुषों की विभिन्न मुद्राओं और उनके लुभावने हाव-भावो से इन वेदिका स्तंभों को अलंकृत किया गया है। संघोल के उत्खनन में मिली वेदिकाओं में शिल्पकारों को अपनी प्रतिभा दिखाने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। इसका परिणाम यह था कि वेदिका स्तंभ का ऐसा कोई भी भाग शेष नहीं बचा जिसमें शिल्पकारों ने अपनी कला का चमत्कार नहीं दिखाया हो। इनमें यक्षणी, शालभंजिकाएँ, बच्चों को गोद में लिए माताएँ, उपासक, उपासिकाएँ, दर्पण-देखती रूपा-नाभिकाएँ, बर्तकिया, स्नान सुंदरिया प्रसाधिकाएँ आदि प्रमुख पात्र हैं। वेदिकाओं में निर्मित महिलाओं के अंगों का समुचित अनुपात उनकी त्रिमंग मुद्राएँ मोहक मुस्कान लज्जित और रसीले नयन, आकर्षित केश-सज्जा, गोलाकार वक्ष स्थल शामिल हैं। संघोल के उत्खनन में प्राप्त यह कलाकृतियाँ कुषाण कालीन मथुरा कला की विश्व धरोहर है। कुषाण शासक कला प्रेमी थे उन्होंने बौद्ध धर्म कला के लिए एक नई शैली का विकास किया। इस कला शैली के दो प्रमुख केन्द्र थे। एक गांधार कला जो रोमन यूनानी भारतीय कला का मिश्रण है तथा दूसरा मथुरा कला जिस पर भारतीय प्रभाव परिलक्षित होता है। गांधार कला की प्रतिमाओं में काले व सलेटी व कठोर पत्थरों का प्रयोग किया गया है। मथुरा कला की आकर्षक प्रतिमाओं में आगरा के आस-पास पाए जाने वाले पत्थरों का प्रयोग किया गया है। कुषाण काल में मथुरा तथा संघोल बौद्ध धर्म के प्रमुख नगर थे। मथुरा के कलाली टीला, कटरा, भुतेश्वर, जमालपुर, बलवभद्र, शोक, कुण्ड आदि नगर प्राचीन बौद्ध धर्म स्थलों के उत्खनन में अनेकों बौद्ध धर्म से संबधित शिल्पकृतियाँ प्राप्त हो चुकी है। इनमें पंजाब के संघोल से प्राप्त 117 कला अवशेष अनेकों शालभंजिकाएँ, यक्षणियाँ, वर्पण वर्शनी, दूग्ध धारणी, बच्चों को गोद लिये माताएँ, नर्तकियाँ, उपासिकाएँ आदि वेदिका स्तंभों में प्रमुख है। इन वस्तु खण्डों में जातक चित्रों का अच्छा चित्रण किया गया है।[16] संघोल की कला भारतीय कला के इतिहास में अखण्ड स्थान प्राप्त किया है। संघोल मूर्तिकला समाज की लोकप्रिय मान्यताओं और विचारों की द्योतक है। मौजूद अमूर्त प्रतीकवाद की ओर प्रवृत्ति की व्याख्या करती है। इस तरह की व्यापक

मान्यताएँ एक ऐसी प्रतिमा का पता चलता है। यक्षिणी माँ देवी और प्रजनन की दिव्य छवियों वाली मूर्तियाँ संघोल से प्राप्त हुई है। संघोल महास्तूप की वेदिका कला संशोभित स्वर्गीय महिलाओं आकृति से भरी हुई है, जिन्हें मुख्य रूप से शालभंजिका और यक्ष या वेकुंठ के रूप में गिना जाता है। यहाँ से भगवान बुद्ध और बैठे हुए बुद्ध के टूटे हुए सिर खण्डित अवसरा में प्राप्त हुए है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पंजाब आधुनिक भारत का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। पंजाब में अनेकों बौद्ध शासकों ने शासन किया। पंजाब में बौद्ध धर्म का इतिहास 2000 साल पुराना है। बौद्ध मान्यता के अनुसार भगवान बुद्ध ने अपने जीवन काल में पंजाब की धरती का भ्रमण किया था और कुरु महाजनपद के कम्मासदम्म और 'घुल्लकोद्वित' नगरों में चारिका करते हुए भगवान बुद्ध ने सतिपट्ठान सुत का उपदेश दिया था जिससे यहाँ के लोग बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षित हुए। इस मान्यता के अनुसार भगवान बुद्ध द्वारा स्वयं बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार पंजाब की धरती पर हुआ। 1985 ई. संघोल बौद्ध स्थल की खोज ने पंजाब में बौद्ध धर्म के पुरातात्विक एवं स्थापत्य कला का एक मजबूत साक्ष्य प्रस्तुत किया जो प्राचीन पंजाब में बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था। उत्खनन में दो धर्म चक्र बौद्ध स्तूप और 117 कुषाण कालीन मूर्ति कला तथा 15000 से अधिक पुरातात्विक अवशेषों की महत्त्वपूर्ण खोज है। उतरापंथ के प्रमुख शहरों में धर्म चक्रनुमा बौद्ध स्तूप संघोल तक्षशिला का धर्मराजिका स्तूप, मथुरा का कनकालीक टीले से प्राप्त स्तूप व अमरावती से प्राप्त स्तूप धर्म चक्र पहिये के आकार के है। जो भारती वास्तुकला की विशिष्ट पहचान हैं। अतः कहा जा सकता है कि संघोल वस्तुकला व स्थापत्य कला पंजाब की महत्त्वपूर्ण देन है जो पंजाब के विभिन्न शहरों में बौद्ध धर्म की पहचान है।

संदर्भ सूची

1. लाल, अँगने. (2008). बौद्ध संस्कृति के विविध आयाम. उत्तर प्रदेश: हिन्दी संस्थान लखनऊ द्वारा प्रकाशित. पृष्ठ संख्या- 115
2. पिपलायन, मधुकर. (2013). पंजाब में बौद्ध धर्म. नई दिल्ली: सम्यक प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 28
3. पिपलायन, मधुकर. (2013). पंजाब में बौद्ध धर्म. नई दिल्ली: सम्यक प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 24
4. सिंह, दानपाल. (2008). भारत के प्रमुख बौद्ध केंद्र. नई दिल्ली: सत्यम पब्लिशिंग हाउस. पृष्ठ संख्या- 210
5. दिव्यादान, 29/9-10 'ताभिर्भगवत: केश, नख स्तूप प्रतिष्टिप:'
6. दैनिक जागरण, नई दिल्ली 27 सितम्बर 2024. पृष्ठ संख्या- 6
7. httpss//www.amarujala.com
8. बाजपेयी, कृष्णदत्त. (2015). भारतीय वस्तुकला का इतिहास. उतरप्रदेश: हिन्दी संस्थान लख़नऊ. पृष्ठ संख्या- 55
9. https://boret disconvery.Org.
10. राय, हिमाँ शू प्रभा. (2010). संघोल एंड दा आरक्योलॉजी ऑफ पंजाब. नई दिल्ली: आर्यन बुक्स इंटरनेशनल. पृष्ठ संख्या- 144
11. शर्मा, जी. बी., आलुवालिया, जगदीश सिंह. (1986) कोइन सील एंड सीलिंग फ्रॉम सिंह. पंजाब: नेशनल म्यूजिम ऑफ़ चंडीगढ़. पृष्ठ संख्या- 1
12. गुप्ता, एस.पी. (2003). कुषाण स्कल्पचर फ्रॉम संघोल lst-llnd सेंचुरी ऐ. डी. भाग 1. नई दिल्ली: नेशनल म्यूजिम जनपद. पृष्ठ संख्या- 17
13. शर्मा, जी.बी., आलुवालिया, जगदीश सिंह. (1986). कोईन सील एण्ड सेलिंग फ्रॉम संघोल. पंजाब: नेशनल म्यूजियम ऑफ चण्डीगढ़. पृष्ठ संख्या- 1
14. गुप्ता, एस.पी. (2003). कुषाण स्कल्पचर फ्रॉम संघोल lst-llnd सेंचुरी ऐ. डी. भाग 1. नई दिल्ली: नेशनल म्यूजिम जनपद. पृष्ठ संख्या- 18
15. गुप्ता, एस.पी. (2003). कुषाण स्कल्पचर फ्रॉम संघोल l st-ll nd सेंचुरी ऐ. डी. भाग 1. नई दिल्ली: नेशनल म्यूजिम जनपद. पृष्ठ संख्या- 17
16. शर्मा, जी.बी., आलुवालिया, जगदीश सिंह. (1986). कोईन सील एण्ड सेलिंग फ्रॉम संघोल. पंजाब: नेशनल म्यूजियम ऑफ चण्डीगढ़. पृष्ठ संख्या- 1

महिमा
शोधार्थी, अफ्रीकन अध्ययन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय-110007
संपर्क सूत्र : 9318314946
ईमेल पता : mahimasingh4593@gmail.com

डॉ. अम्बेडकर दूरदर्शिता: महिला सशक्तिकरण के पथ पर

डॉ. अम्बेडकर महिलाओं व कमज़ोर वर्ग के लोगों के सम्मान व मानव अधिकार के जीवन पर्यन्त लड़ने वाले महान व्यक्ति के रुप में जाने जाते हैं। सामाजिक न्याय के अग्रदूत होने के नाते उन्होंने हमेशा महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए काम किए। उनके अनुसार जाति, पंथ, लिंग और धर्म के बावजूद सभी के साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिए। उनका उद्देश्य सामाजिक न्याय पर आधारित समाज का निर्माण करना था जिसमें समाज के सभी वर्गो को समान अधिकार मिले व समाज में सबसे कमजोर समझे जाने वाले वर्ग, दलित, पिछड़े गरीब महिला को समाज में समानता या दर्जा प्राप्त हो। उन्होंने भारत में रूढ़िवादी प्रथा को समाप्त करने व आधुनिक समाज स्थापित करने के लिए अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने महिलाओं के लिए संविधान में बहुत सारे अधिकार दिए। 'मैं किसी समाज की तरक्की इस बात से देखता हूं कि वहां महिलाओं ने कितनी तरक्की की है।' महिलाओं के उत्थान के लिए बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर कितने गंभीर थे... ये बताने के लिए उनका ये एक कथन ही काफी है। भारत में जब फेमिनिज़्म यानी नारीवाद का कोई नाम भी ढंग से नहीं जानता था, उस वक्त बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर ने नारी सशक्तिकरण के ऐसे काम किए जिससे आज भारतीय महिलाएं अंतरिक्ष तक पहुंच चुकी हैं। वोटिंग राइट्स को लेकर 20वीं शताब्दी के आधे हिस्से तक दुनिया भर में कई आंदोलन हुए। नारीवाद की पहली और दूसरी लहर में महिलाओं के लिए वोटिंग राइट्स की जबरदस्त माँग उठी लेकिन उस समय भारत में इसके लिए बहुत ज्यादा आंदोलन नहीं हुए थे। जब बाबा साहब को संविधान लिखने का मौका मिला तो उन्होंने महिलाओं को भी समान मताधिकार दिया। आज 18 साल की उम्र होने पर महिलाएं वोट डालने का हक रखती हैं क्योंकि बाबा साहब ने महिलाओं को समान मताधिकार दिलाया। बाबा साहब ने संविधान में लिखा कि- "किसी भी महिला को सिर्फ महिला होने की वजह से किसी अवसर से वंचित नहीं रखा जाएगा और ना ही उसके साथ लिंग के आधार पर कोई भेदभाव किया जा सकता है।" डॉ. अम्बेडकर के सपनो को वर्तमान सरकार ने समाज में लागू करने के लिए निर्णायक कदम उठाए हैं जो कि महिला सशक्तिकरण के पथ पर अग्रसर हैं। यह शोध पत्र विभिन्न महिला योजनाओं की आलोचनात्मक समीक्षा करेगा और महिला सशक्तिकरण का सकारात्मक सुझाव प्रस्तुत करेगा।

स्वतंत्रता के पहले और बाद में भी महिलाओं को समाज में बराबरी का अधिकार दिलाने के लिए कई आंदोलन किए गए, भारत के पहले कानून मंत्री डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने भारत की आधी आबादी के अधिकारों का कानूनी दस्तावेज तैयार किया। दृढ़ निश्चयी सेनानी और प्रखर विद्वान डॉ. अम्बेडकर ने नेतृत्व करने के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयास किए हैं। वे स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के पथ पर समाज में बाधाओं को तोड़ने वाले पहले भारतीय थे। भारत में महिलाओं की उन्नति के लिए उन्होंने ठोस और ईमानदार प्रयासों की नींव रखी। हिंदुओं और

भारतीय समाज के अन्य वर्गों के लिए समान नागरिक संहिता को संहिताबद्ध किया। उन्होंने कहा कि महिलाओं के सर्वांगीण विकास के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण रूप से सामाजिक शिक्षा और सामाजिक, सांस्कृतिक अधिकार दिया जाना चाहिए। उन्होंने इस बात पर जोर दिया था कि भारतीय महिलाओं के प्रत्येक वर्ग को उनका उचित हिस्सा दिया जाना चाहिए। यह महिलाओं की गरिमा और शालीनता को बनाए रखने और उसकी रक्षा करने के लिए आवश्यक है (Shukla, 2011) डॉ. अम्बेडकर हमेशा महिलाओं के नेतृत्व वाले आंदोलनो में विश्वास करते थे। उन्होंने यह भी कहा कि महिलाएं जीवन के सभी क्षेत्रों के सामाजिक सुधारों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। उन्होंने सामाजिक कुरीतियों को मिटाने के लिए बहुत व्यापक और सक्रिय भूमिका निभाई। उन्होंने जोर देकर कहा कि हर विवाहित महिला को एक मित्र के रूप में अपने पति की गतिविधियों में भाग लेना चाहिए। उसे गुलामों के जीवन को नकारने का साहस दिखाना चाहिए। समानता के सिद्धांत पर जोर देना चहिए। अगर सभी महिलाएं इसका पालन करेंगी तो उन्हें समाज में सम्मान मिलेगा (Gunjal, 2012)। 'मैं किसी समुदाय की प्रगति को महिलाओं द्वारा हासिल की गई प्रगति की डिग्री से मापता हूं'- बी. आर. अम्बेडकर।

हिन्दू कोड बिल

भारतीय संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ राज्य से धर्म को अलग करना नहीं है, बल्कि सभी धर्मों के प्रति एक उदार तटस्थता है जो समान व्यवहार करते हैं। हालाँकि, यह सार्वभौमिकवादी रवैया समाज में धर्म के प्रसार को कम करने के प्रयासों के साथ मौजूद है। 1950 का संविधान, जो नेहरू से अत्यधिक प्रभावित था, धार्मिक समुदायों को नहीं, बल्कि केवल व्यक्तियों को मान्यता देता था, जिनके लिए अनुच्छेद 25 ने अंतःकरण की स्वतंत्रता और धर्म को मानने, अभ्यास करने और प्रचार करने के लिए स्वतंत्र रूप से अधिकार की गारंटी दी थी। समानता के लिए संघर्ष महिलाओं की स्थिति के लिए अम्बेडकर की मुख्य चिंता हिंदू कोड बिल में परिलक्षित होती है। उन्होंने यह भी कहा कि हिंदू कोड बिल पर उनका काम उतना ही महत्त्वपूर्ण होगा जितना कि संविधान पर। समग्र मिशन 'वर्गीकृत असमानता' के खिलाफ लड़ने के लिए रणनीतिक कदम को दर्शाता है। डॉ. अम्बेडकर ने आश्वासन दिया था कि अभियान अलगाव या बाहर से समावेशन और भीतर से प्रभावी होगा, बशर्ते यह सम्मानजनक सुधार की ओर ले जाए।

हिंदू कोड बिल के उद्देश्य

लिंग, पुत्र और पुत्री दोनों के लिए वसीयत (निर्वसीयत) किए बिना मृतक हिंदू के संपत्ति के अधिकारों से संबंधित कानून को संहिताबद्ध करें मृतक (निर्वसीयत) की संपत्ति के विभिन्न उत्तराधिकारियों के बीच उत्तराधिकार का क्रम रखरखाव, विवाह, तलाक, गोद लेने, नाबालिग और संरक्षकता का कानून। उन्होंने भारत की बेटियों की मजबूती के लिए ऐसा खाका तैयार किया जिसमें विवाह, तलाक, संपत्ति आदि तमाम मुद्दों पर अधिकार देने की बात की गई। वर्तमान परिपेक्ष्य में हम देखें तो, महिलाओं की दशा सुधारने में मील का पत्थर बना है,'हिंदू कोड बिल'। अम्बेडकर का वृहद चिंतन, संविधान में सभी नागरिकों को समान अधिकार दिलाए जाने के साथ-साथ

महिलाओं की बराबरी के अधिकारों की वकालत भी करता है, जिसके लिए उन्होंने सन् 1951 में संसद में 'हिंदू कोड बिल', पेश किया। हालांकि जिस दृढ़ता से इस बिल को अम्बेडकर ने बतौर तत्कालीन कानून मंत्री के रूप में पेश किया, उतनी ही शिद्दत से इसका विरोध भी हुआ। लिहाजा पंडित नेहरू को पसंद होते हुए भी यह बिल पास न हो सका जिसके कारण डॉ. अम्बेडकर ने इस्तीफा दे दिया। हालांकि प्रथम लोकसभा चुनाव के बाद पंडित जवाहरलाल नेहरू ने, 'हिंदू कोड बिल' को कई हिस्सों में बांटकर कई एक्ट बनाए जैसे- 'हिंदू मैरिज एक्ट 1955', 'हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम 1956', 'हिंदू दत्तक ग्रहण और पोषण अधिनियम', हिंदू अवयस्कता और संरक्षक अधिनियम आदि। भारत की स्वतंत्रता के साथ ही महिलाओं को वोट देने का अधिकार, पुरुषों के समान प्राप्त हुआ, लेकिन उन्हें संपत्ति, विवाह और सामाजिक स्वतंत्रता से जुड़े कई मुद्दों पर अधिकार नहीं थे। वे बेटी, पत्नी और बहू के तौर पर घर, खेत, खलियानों से लेकर उद्योग धंधों तक शामिल थीं। लेकिन सामाजिक ताने-बाने की कई चुनौतियों से जूझ रही थीं। हिंदू कोड बिल, महिलाओं की समाजार्थिक दशा में सुधार करके, उन्हें तरक्की और कामयाबी से जोड़ता था। हिंदू कोड बिल संसद में पास न करा पाने से अम्बेडकर बहुत दुखी थे। उनका मानना था कि संविधान लिखने से भी ज्यादा खुशी उन्हें हिंदू कोड बिल पास होने से होती। यद्यपि हिंदू कोड बिल को कई टुकड़ों में बांट कर, कई एक्ट पारित किए गए, लेकिन उनकी प्रभाविकता काफी हद तक कम हो गई। निश्चित तौर पर ये कानून महिलाओं की स्थिति समाज में बेहतर करने में सहायक बने, जिनसे आगे की राह भी आसान हुई है, फिर वह हिंदू महिलाओं के कानूनी अधिकार हों या मुस्लिम महिलाओं को गुजारा भत्ता एवं तलाक के नियम में होने वाले बदलाव। आजादी से अब तक के इतिहास में कई महत्त्वपूर्ण फैसले लिए गए हैं, जो महिलाओं को सामाजिक और आर्थिक मजबूती देते हैं।

वर्तमान समय में इसकी महत्त्वता

अभी हाल ही में 11 अगस्त 2020 को सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा हिंदू उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम 2005, की पुनर्व्याख्या की गई, जिसमें सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा अपने हालिया निर्णय में पुरुष उत्तराधिकारियों के समान हिंदू महिलाओं को पैतृक संपत्ति में उत्तराधिकार और सहदायिक (संयुक्त कानूनी उत्तराधिकारी) अधिकार का विस्तार किया गया है जिसका संबंध हिंदू उत्तराधिकार संशोधन अधिनियम 2005 से है। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार एक हिंदू महिला को पिता की संपत्ति में संयुक्त उत्तराधिकारी होने का अधिकार जन्म से ही प्राप्त है। यह इस बात पर निर्भर नहीं करती की पिता जीवित है या नहीं। यह निर्णय हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम के वर्ष 2005 में किए गए संशोधनों के विस्तार पर है। इसके तहत हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 की धारा 6 में निहित भेदभाव को दूर करने का प्रयास है, ताकि बेटियों को भी संपत्ति में समान अधिकार मिल सके। यह निर्णय संयुक्त हिंदू परिवारों के साथ जैन, बौद्ध, आर्य-समाज एवं ब्रह्म-समाज से संबंधित समुदायों पर भी लागू किया जाएगा। न्यायमूर्ति अरुण मिश्रा के अनुसार, 'बेटियों को बेटों के समान अधिकार दिया जाना चाहिए, बेटी जीवन भर एक प्यार करने वाली बेटी बनी रहती है, बेटी पूरे जीवन एक सहदायिक बनी रहेगी, भले ही उसके पिता जीवित हों या नहीं।' वास्तव में सर्वोच्च न्यायालय का यह फैसला महिला अधिकारों के साथ,

डॉ. अम्बेडकर के 'हिंदू कोड बिल' की जीत है, जो निश्चित तौर पर महिलाओं के उज्ज्वल भविष्य की नई इबारत लिखेगा। आने वाले समय में महिलाओं के विकास में मील का पत्थर साबित होगा।

भारत में महिलाओं का मतदान अधिकार अम्बेडकर की देन है

वह चाहते थे कि महिलाओं की जीवन के सभी क्षेत्रों में विशेषकर राजनीतिक क्षेत्र में अधिक से अधिक भागीदारी हो। सशक्त बनाने के लिए, ब्रिटिश शासन के तहत एक विधायक के रूप में, वह कामकाजी महिलाओं के अधिकारों के लिए जड़ रखने वाले पहले लोगों में से एक थे। डॉक्टर भीमराव अम्बेडकर महिला अधिकारों के बड़े पैरोकार थे। उनका मानना था कि किसी समाज का मूल्यांकन इस बात से किया जाना चाहिए कि उस समाज में महिलाओं की स्थिति क्या है? किसी भी देश की उन्नति और विकास के लिए महिलाओं का समुचित विकास होना सर्वोपरि है। उनका मानना है कि यदि हमें विकास के शिखर पर पहुंचना है तो महिलाओं को शिक्षित और सशक्त बनाना होगा। डॉ. आबंडेकर का मानना था कि यदि महिलाएं संगठित हो जाएं, तो समाज को सही दिशा देने में अपना अहम योगदान दे सकती हैं। वह भारत की शिक्षा व्यवस्था को बेहतर बनाने के लिए, महिलाओं को शिक्षित करने पर जोर देते थे। वे नारी शक्ति, संघर्ष, साहस, त्याग और बलिदान से भली भांति परिचित थे। इसलिए उन्होंने वायसराय की कार्यकारी परिषद के श्रम सदस्य के पद पर रहते हुए, महिलाओं के लिए प्रसूति अवकाश की व्यवस्था कराई। संभवतः महिला स्वास्थ्य चिंता को लेकर दर्ज इतिहास की यह पहली छुट्टी रही होगी।

महिलाओं के लिए शिक्षा: अम्बेडकर का दृष्टिकोण

"प्राथमिक शिक्षा का उद्देश्य यह देखना है कि प्रत्येक बच्चा जो प्राथमिक विद्यालय के पोर्टल में प्रवेश करता है, उसे केवल उस अवस्था में छोड़ता है जब वह साक्षर हो जाता है और जीवन भर साक्षर बना रहता है।" - डॉ. बी. आर. अम्बेडकर शिक्षा ही एकमात्र साधन है जिसके द्वारा समाज उत्पीड़न से लोकतांत्रिक भागीदारी और भागीदारी के लिए विकसित होता है। यह व्यक्तियों के सशक्तिकरण के लिए एक शक्तिशाली उपकरण है। शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य दलित वर्गों को प्रबुद्ध करना है ताकि उनके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक उत्थान के कारण को बढ़ाया जा सके। शिक्षा के उनके दर्शन का मूल विषय सभी धर्मों, क्षेत्रों, वर्गों और जाति के लड़कों और लड़कियों के बीच स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, न्याय और नैतिक चरित्र के मूल्यों को विकसित करना था। अम्बेडकर ने इन तीन घटकों को नीति निर्माताओं के उद्देश्यों के रूप में सूचीबद्ध किया-

1. शिक्षा के लक्ष्यों और उद्देश्यों को पुनर्गठित करना

2. मौलिक समानता के साधन के रूप में शिक्षा

3. महिला शिक्षा (वेलास्कर, 2012)

डॉ. अम्बेडकर शिक्षा को महिलाओं की मुक्ति का एक महत्त्वपूर्ण साधन मानते थे। डॉ. अम्बेडकर ने महिलाओं और हमारे देश की प्रगति के लिए शिक्षा पर बल दिया। भारत में महिला सशक्तिकरण योजना 22 जनवरी 2015 को शुरू की गई थी।

बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ योजना

यह पहल 22 जनवरी 2015 को हरियाणा में भारत के प्रधान मंत्री द्वारा लड़कियों के अस्तित्व, सुरक्षा और शिक्षा की गारंटी के लिए शुरू की गई थी। पहल का उद्देश्य हाल के वर्षों में असमान लिंगानुपात के मुद्दे से निपटना, सामाजिक जागरूकता बढ़ाना और लड़कियों के लिए कल्याणकारी लाभों की प्रभावशीलता में सुधार करना है।

कामकाजी महिला छात्रावास योजना

यह योजना शुरू में 1972-73 में भारत सरकार द्वारा कामकाजी महिलाओं के लिए सुरक्षित आवास और वातावरण प्रदान करने के साथ-साथ उनके बच्चों के लिए डेकेयर सुविधाएं प्रदान करने के प्राथमिक उद्देश्य से शुरू की गई थी। सरकार इस महिला सशक्तिकरण परियोजना के माध्यम से नए छात्रावास भवनों का निर्माण करने और किराए के स्थान में मौजूदा संरचना को बढ़ाने के लिए सहायता अनुदान प्रदान करती है।

वन-स्टॉप सेंटर योजना

वन-स्टॉप सेंटर योजना महिलाओं के लिए आवश्यक चिकित्सा सहायता प्रदान करने वाली योजनाओं में से एक है। 2015 में शुरू की गई, यह महिलाओं के लिए सरकार द्वारा प्रायोजित योजना है जो निर्भया कोष से धन प्राप्त करती है। इस पहल के तहत, राज्य सरकारों को उन महिलाओं की सुरक्षा के लिए पूर्ण संघीय धन प्राप्त होता है जो सार्वजनिक और निजी दोनों स्थितियों में लिंग आधारित हिंसा की शिकार होती हैं, जैसे एसिड हमले, बलात्कार और यौन उत्पीड़न। यह कार्यक्रम महिलाओं के खिलाफ सभी प्रकार की हिंसा को संबोधित करने के लिए एक ही छत के नीचे चिकित्सा सहायता, कानूनी सहायता और परामर्श सेवाएं प्रदान करता है।

महिला हेल्पलाइन योजना

अप्रैल 2015 में शुरू की गई, महिला हेल्पलाइन योजना का उद्देश्य उन महिलाओं को 24*7 आपातकालीन सहायता प्रदान करना है, जिन्होंने सार्वजनिक या निजी सेटिंग्स में दुर्व्यवहार का अनुभव किया है। सरकार ने त्वरित और आपातकालीन सहायता प्रदान करने के लिए एक टोल-फ्री नंबर (181) पेश किया। महिलाएं इस हेल्पलाइन नंबर का इस्तेमाल पूरे देश के हर राज्य और केंद्र शासित प्रदेश में कर सकती हैं। यह पहल महिला सशक्तिकरण और सुरक्षा के बारे में जागरूकता भी बढ़ाती है।

महिला पुलिस वालंटियर्स योजना

महिला पुलिस स्वयंसेवी योजना 2016 में सभी राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों में महिला एवं बाल विकास और गृह मामलों के मंत्रालयों द्वारा शुरू की गई थी। अपराध के मामलों में पुलिस की पहुंच सुनिश्चित करने के लिए केंद्र सरकार द्वारा प्रायोजित यह कार्यक्रम पुलिस प्राधिकरण और स्थानीय समुदायों के बीच संबंध स्थापित करने का प्रयास करता है। इस रणनीति के हिस्से के रूप में, एक एमपीवी (महिला पुलिस स्वयंसेवी योजना) दहेज उत्पीड़न, बाल विवाह, घरेलू दुर्व्यवहार और घरेलू हिंसा जैसे महिलाओं के खिलाफ अपराधों से निपटने के लिए सार्वजनिक-पुलिस संपर्क के रूप में कार्य करेगी। यह योजना सुरक्षित वातावरण को बढ़ावा देकर महिलाओं को पुलिस बल में शामिल होने के लिए भी प्रोत्साहित करती है।

स्वाधार गृह

यह 2018 में शुरू की गई महिला सशक्तिकरण के लिए भारत सरकार की योजनाओं में से एक है। इस परियोजना का प्राथमिक लक्ष्य सामाजिक, आर्थिक और स्वास्थ्य सुरक्षा सुनिश्चित करने के साथ-साथ आवास, भोजन और कपड़े प्रदान करना है। यह कार्यक्रम महिलाओं को कानूनी सहायता देता है और उन्हें समाज में पुन: एकीकृत करने की पहल करने का अधिकार देता है।

STEP (महिलाओं के लिए प्रशिक्षण और रोजगार कार्यक्रम में सहायता)

1986-1987 से, महिला और बाल विकास मंत्रालय ने STEP योजना को 'केंद्रीय क्षेत्र योजना' के रूप में संचालित किया। दिसंबर 2014 में इसमें संशोधन किया गया। इसे महिलाओं को कार्य सुरक्षा और कौशल विकास में प्रशिक्षण देने के लिए डिजाइन किया गया था। सरकार द्वारा प्रायोजित यह पहल संस्थानों और संगठनों को वित्त पोषण प्रदान करती है ताकि वे महिलाओं के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम चला सकें। 920 महिला शक्ति केंद्रों का निर्माण करके, सरकार को उम्मीद है कि 115 ज़िलों में सबसे अधिक गरीबी स्तर होंगे। इस कार्यक्रम का उद्देश्य महिलाओं को गुणवत्तापूर्ण स्वास्थ्य सेवा, शिक्षा, काम के अवसर और परामर्श सहित संसाधनों तक पहुंच प्रदान करना है।

उज्ज्वला योजना

'स्वच्छ ईंधन, बेहतर जीवन' के नारे के साथ केंद्र सरकार नें 1 मई 2016 को माननीय प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी ने नेतृत्व में एक सामाजिक कल्याण योजना- 'प्रधानमंत्री उज्जवला योजना' की शुरूआत की है। यह योजना एक धुँआरहित ग्रामीण भारत की परिकल्पना करती है और वर्ष 2019 तक 5 करोड़ परिवारों, विशेषकर गरीबी रेखा से नीचे रह रही महिलाओं को रियायती एलपीजी कनेक्शन उपलब्ध कराने का लक्ष्य रखती है। योजना से एलपीजी के उपयोग में वृद्धि होगी और स्वास्थ्य संबंधी विकार, वायु प्रदूषण एवं वनों की कटाई को कम करने में मदद मिलेगी।

महिला शक्ति केंद्र योजना

यह योजना महिला एवं बाल विकास मंत्रालय की ओर से साल 2017 को लॉन्च की गई थी। यह योजना महिलाओं के संरक्षण और सशक्तिकरण के लिए तैयार की गई है। इस योजना के तहत गांव-गांव की महिलाओं को सामाजिक भागीदारी के माध्यम से सशक्त बनाने और उनकी क्षमता का अनुभव कराने का काम किया जाता है। यह योजना राष्ट्रीय, राज्य और जिला स्तर पर काम करती है।

सुकन्या समृद्धि योजना

मोदी सरकार ने 22 जनवरी 2015 को सुकन्या समृद्धि योजना की शुरुआत की थी। यह स्कीम 10 साल से कम उम्र की लड़कियों/बच्चियों की उच्च शिक्षा और शादी के लिए है। यानी लड़कियों के सुरक्षित भविष्य के लिए यह बचत योजना है। किसी भी बैंक और पोस्ट ऑफिस में जाकर आप अपनी साल से कम उम्र की बेटी के लिए अकांउट खुलवा सकते हैं। स्कीम पूरी हो जाने के बाद सारा पैसा उसे मिलेगा, जिसके नाम पर आपने इस अकांउट को खुलवाया होगा।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि हम जल्द ही बेहतर दिन देखेंगे। अगर पुरुष शिक्षा को महिला शिक्षा के साथ-साथ राजी किया जाए तो हमारी प्रगति बहुत तेज हो जाएगी।' ये शब्द जो अम्बेडकर जी के थे आज हम देख सकते हैं कि सरकार 'बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ' जैसे कार्यक्रम चलाकर महिलाओं के सशक्तिकरण की दिशा में आगे बढ़ रही है। संविधान की मसौदा समिति के अध्यक्ष के रूप में डॉ.. बाबासाहेब अम्बेडकर द्वारा निभाई गई भूमिका ने आजादी के बाद देश के सामाजिक पटल पर अपनी छाप छोड़ी है और आज भारत के सामाजिक-राजनीतिक ताने-बाने को आकार दिया है। वर्तमान समय में हम देख सकते हैं कि सरकार ने महिलाओ के सशक्तीकरण को लेकर बहुत सी नीतियां बनाई है और देश की महिलाओं के विकास में बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। आज हर क्षेत्र में महिलाओं के उत्थान के लिए कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं और महिलाओं को इसका लाभ भी मिला है जिससे हर क्षेत्र में महिलाएं अपना विकास कर रही है। हर क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी को देखा जा सकता है। सरकार ने महिलाओं के विकास से लेकर उनके स्वास्थ और सुरक्षित वातावरण के लिए स्वच्छ भारत अभियान जैसे कार्यक्रमों में महिलाओं की भागीदारी को बढ़ावा दिया है। इस वर्ष सरकार ने महिला सम्मान बचत पत्र योजना की घोषणा कर महिलाओं और लड़कियों को सबसे बड़ा तोहफ़ा दिया है। इस योजना के अनुसार महिलाएँ दो साल के लिए दो लाख रुपए की बचत कर पाएँगी और उन्हें इस रक़म पर 7.5 की दर से बयाज मिलेगा, जो उनके आर्थिक स्थिति में विकास को और भी बढ़ाएगा।

References-

1. Dubey, K. (2020). B. R. Ambedkar and women empowerment. PalArch's Journal of Archaeology of Egypt/Egyptology, 17(7), 10825-10830.
2. Mishra, M. (2022). Republic Day: Vision of Ambedkar for women empowerment. Ground Report. https://m.groundreport.in/article/republic-day-vision-of-ambedkar-for-women-empowerment/99838
3. Paswan, P. (2022). Shaping legal rights of women in India by Dr. B. R. Ambedkar. American Society for Public Administration (PA Times). https://patimes.org/shaping-legal-rights-of-women-in-india-by-dr-b-r-ambedkar/
4. Singaeriya, M. (2014). Dr. B. R. Ambedkar and women empowerment in India. Journal of Research in Humanities and Social Science, 2(1), 01–04.
5. Ministry of Women & Child Development. (n.d.). Women empowerment schemes. https://wcd.nic.in/schemes-listing/2405
6. Yeasmin, M. (2018). Dr. B. R. Ambedkar's vision for women empowerment. International Journal of Creative Research Thoughts (IJCRT), 6(2).

Dr. Chetna Sharma
Assistant Professor, Department of English

Swami Shraddhanand College, University of Delhi
Mobile No.- 8826134201
Email Id: chetna@ss.du.ac.in

A Spiritual Journey Through Sri Aurobindo's Lenses

Sri Aurobindo (1872-1950) was a maharishi, philosopher, yogi, poet, nationalist, journalist and an editor. His oeuvres reflecting his spiritual philosophy bolstered with yoga, assists human beings to overcome their inconscient thoughts, to quench the gnostic appetite and the quest for an unknowable world. It awakens cosmic consciousness through spirit, consciousness and the Supermind. It assists human beings to acquaint with their true beings and transcends to the Supermind to lead a divine life. His magnum opuses ensure the terrestrial existence of human beings on earth amidst the modern life that can be attained through the process of evolution, consciousness, inconscient, mind, development of Supermind and yoga. In his theory he suggests his vision on human progress through spiritual evolution and yoga. He strives to emancipate modern people from stress, stress related problems, anxiety, ego, ego-related problems, other human vices and spreads a message of humanity, fraternity, peace and love to the world.

After returning from Europe he evolved his analytical skill to describe the Indian knowledge, spirituality and philosophy through his newly developed European lenses. 'Synthesis of Yoga' probes into an examination of traditional systems and an exploration of Integral Yoga, a method explored by him. He emphasizes three great yogic paths of knowledge, works and love. He discusses at considerable length Hath Yoga, Raja Yoga, Tantric Yoga and 'Yoga of Self-Perfection'. In this modern world man is emerging as a huge menace to human race the weapons based on advanced technologies and nuclear weapons are being used by countries in wars to subjugate other countries and for other reasons too. People are getting violent at trivial things and issues. World Wars I & II, the war between America & Japan, Taliban & Afganistan and on going war between Rassia and Ukraine are the proofs of speedily increasing human vices that take human beings far from humanity. Today modern man is forgetting the essential virtues. Due to avarice, pomposity and the lack of patience man is getting violent and suffers from ego stress and some problems related to the ego & stress in the absence of spirituality. A country can't be imagined developed until its people are mentally healthy. (As there is always thoughts and ideology that culminate into and policies, laws etc. to run and to develop a country). The modern world is full of multiple challenges that can be encountend with positivity and spirituality.

India has produced many Legends like Aryabhatta, Vivekananda, Gautam Buddha, Ashoka the Great, Maharishi Sri Aurobindo and many more. Sri Aurobindo's spiritual philosophy seems to be very relevant in this moderns world. It not only infuses in man humanity and tranquility, a feeling of fraternity, love, cooperation etc. but also prepares him to contribute in nation building. Sri Aurobindo ranks among the greatest personalities of modern India. He was a multifaceted genius. He was a political revolutionary, historian, educationist, social reformer, man of letters, yogi and philosopher. He was an editor, journalist, linguist, literary critic, essayist translator, dramatist, short story writer, poet and more than all of these, a maharishi, He had a marvellous supple intellect, a breadth of mind so extensive that he scarcely left any importent field of human endeavor. There is ample testimony of his stupendous achivements. He was a Renaissance Man who stands with the men like Mahatma Gandhi. His life journey can be divided into four phases, sprent on different places.

First phase England (1872-1893) -He was born in 1872 and shifted to England in 1879 along with his family for his education where he attended St. Paul's school from 1844- 1890, then Kings College and Cambridge University. As a brillant student he was proficient in Greek, Latin, German, French, Spanish, Eglish, classics and secured a distinction in the written enterance exam to the prestigious Indian Civil Service. But he didn't appear in the riding test as his heart was not set on serving the British Government in India. Instead, he joined his hand with the Maharaja of Baroda and set sail to India in January 1893. Second Phase-Baroda (1893-1906)- This phase was reserned for preparation and growth for his lates work. It established him as a professor in English and Vice-Principal of Baroda College and he held various posts later. Here, he familiarised with his Indian roots and realised the need to learn Sanskrit and his mother tongue Bengali to gain a deep insight into Indian culture and civilization. He also started taking keen interest in politics and yoga. After his marriage in 1901 he experienced his first definite spiritual realizations that are later reflected in some of this reminiscences. These transforming experiences and guidance of Yogi Vishnu Bhaskar transformed him into a maharishi.

Third Phase- Calcutta (1906-1910) - Sri Aurobindo joined the newly formed National Congress in Calcutta in 1906. He inaugurated his briefer and crucial phase in Calcutta, His political activities had already begun as early as 1902 when he got an opportunity to meet Lokmanya Tilak at Ahmedabad session of Congress and he started ventilating his patriotic feelings through his influential periodical ‘Bande Mataram’ where he attacked British imperialism vehemently. In 1908 he was arrested and detained on the charge of being involved in revolutionary activities. During this period he underwent

further spiritual experiences - cosmic consciousness. Then in 1910 on hearing of a third prosecution to be lounched against him, he left for Pondicherry.

Fourth Phase- pondicherry (1910-1950) - This phase witnessed Sri Aurobindo's entire transcendence into a maharishi. Though, he had not given up & political activity, he never returned to British India or to politics. He began the publication of Arya, a periodical in which he published his early Oeuvres 'The Life Divine', 'The Synthesis of Yoga', 'The Secret of the Veda' and so on. He composed poetry and showcased his intellect in criticism, drama and translation extensively from Sanskrit and other Indian languages in this phase. Mirra Richard, later known as Mother, played a significant role in his life. She changed his house into an extensive and superbly organised Sri Aurobindo's Ashram. In November 1926 after some decisive spiritual efexperiences, he withdrew entirely into solitude. Then, he showed his inclination towards the evolution of human consciousness by bringing 'down' the Supermind, the higher plane of consciousness with that humankind could benefit.

There after he devoted his entire life to the spirituality. It is not easy to comprehand writer's extensive copus. 'The life Divine', his book was first published in his serially periodical 'Arya' from August 1914 to January 1919. Later it was revised and appeared in a book from in 1939 divided into two parts with title 'Part-I : The Infinite Consciousness and the ignorance' and 'Part-II: The Knowledge and the Spiritual Evolution'. Sri Aurobindo's this magnum opus covers some vital topics such as human aspiration, the emergence of life in the cosmos from a Divine Source, the evolution of matter to the spirit in the universe, the division and dualities that are inherent in human consciousness. It emphasizes an evolution of consciousness and the spiritual desting of life on earth. It is the omnipresent reality that makes the universe and it indwells in the objects of the universe and then exceeds it. Man is that omnipresent reality that in essence as well as in his external phenomenal expression, aspires to realise it inwardly and outwardly. The inner realisation is termed as awakening and the outer expression of this truth is a divine life in an animal body. Further, it proceeds through the process of creation and ends with the inner spirit having total mastery over the outer matter. A change always comes from inside in human being or in the universe. Internal forces compel the matter to change its outer side. For example, the realization of a crime automatically changes the behaviour of the culprit instead of punishment inflicted upon him by the police or judge.

The divine life begins with man's awakening and it proceeds through the process of creation and it ends with the inner spirit gaining overall mastery over the outer matter. For example, a person wearing different heeled shoes faces difficulties to go through the

slippery road and slips down easily due to the imbalance. So, there must be unity of mind, spirit and matter to attain a divine life and delight. Today it is the requirement of modern people to maintain their mental balance (unity) between spirituality and their materialistic life through the practice of spirituality and yoga. Sri Aurobindo says that The Infinite Omnipresent Reality is the Unkowable to man. It exercises its prerogative of infinite self-conception and let the mathes to enjoy one more form of delight that is the result of self-discovery. The Reality chooses the greatest possible delight of finding itself, having lost itself. So, end is achived by self-absortion like absorbing knowledge into ignorance, the light into darkness, Being into Non-Being etc. where reality forgets its original intention. Likewise, the Reality creates a cosmos of a self-Conscious Being at one end and the Inconscient at the opposite end simultaneously in Himself.

Man always aspirer for God, Light, Freedom and Immortality, But he gets struck into the conflict and contraction of Matter and spirit. Unconscious, Matter rises to conscious Mind is evolution posited by Vedanta. This a paradox of Divine life in animal body is explained with Reason by the concept of evolution. The Matter is recognised as the Divine garb that completes the eternal Spirit and a lift based on it. The rational intellect is evolved when are recognise Matter as Brahman and it ascends series of life, Mind and Supermind. Assertion of Spirit excludes Nature. There is nothing common between Purusha and Prakriti. Contradictions are unsatisfactory wheneas Reconcilliation is required between them. He says that when the rhythm of unity is disturbed once, mind always comes back to it by exclusive methods. To perceive their Source eschewing exclusiveness Mind arrives at That. The Final Truth of all knowledge is Agnosticism that assists people to arrive at the unknowable and what is unknowable by thought in attainable only by consciousness. Moreover, this knowledge explains Life, Mind and Supermind.

The unknown in Ignorance can be knowable with the knowledge as all possible knowledge is within the reach of humanity. Science is driving towards Monism, Mind, Life and Matter are formulated triply and termed as triple energy or Will. This will applies to work and that work is involution and evolution. It is in Man for unending life besides knowledge and power. Behind the individual will there is the collective Will that is the Superconscient Might. Limits remove-wireless removed the wire, only machinery remains at each end. In human beings, Ego is the psychological machinery to be removed. The Transcendent Consciousness perpetually works beyond the Cosmic Consciousness. The later Can be found by the extension of our consciousness. It is self-existent. The essence of Cosmic Consciousness exceeds the ego-sense and an identification with the self-knowledge secret in life and inanimate things. When enters the Cosmic consciousness one

feels the onecness of sub-stance, life and mind. Consequently, one feels effective in the external world. (as being and self-existen). This consciousness Being is the Truth of Supermind and transcends the Universe Thus, Universe lives by That. Spintuality develops a feeling of belongingness in man to that extent he starts feeling Connected not only to his society and country but also to the world. Consequently, he starts making efforts to make his surrounding better and encourage others also to do welfare for their country and the world. Indirectly, it removes negativity and pushes man towards his hidden positive side.

Writing about the Ego and the Dualities, Sri Aurobindo says that the deviations from acceptance of God and himself into a dividing consciousness leads to the dualities. The redemption comes in the individual from the recovery of The Universe and the spiritual terms comes in the physical consciousness. By responding ecoistically to Bliss, Truth, Existence and good individual gets pain, death, evil and falsehood. Otherwise, he could get self-existent delight. Ishwara is the cause and the Lord whereas 'Ego is an intermediary phenomenon. So, Recovering the individual in the consciousness of the totality of transcendence will restore it. Individuals make the senses see earth goes around the sun, they must realize the Universal and Transcendent as lates comes through rearon.

The outflowering of the Good, the Infinite and Truth in the individual is the Supreme birth that is a awaited by Nature. According to the Garud Puran, there are good and bad evils that work simultaneously in individuals and pull later in their opposite directions to behave according to their (good and bad evils) nature. Wise men work as directed by the good evils where others go with the evil ones. This knowledge can assist individuals while taking decisions wisely. Vedantic Knowledge is very relevant and useful. It focuses on reason, metaphysical knowledge, truths, psychological experience, senses and mind. Pure reasons always rise men above the sense of perception through this, men correct the errors of sense-mind. They impart a metaphysical knowledge, But these truths are beyond the perception of senses. They undergo psychological experience with it. The sense-mind (Manas) is capable in itself of direct perception without the intermediary senses. So, all knowledge is gained by identity. When men separate themselves from the environment, men require organs. Direct knowledge is not possible due to the hindrances created by conscious identity. Ultimately, it leads to the Ego.

It is seen that during hypnosis,man bypasses the organs. In waking state, this is diffucult but possible. For this men required further senses. Men gain the awareness of self-existence by identity and further it is extended from mental self-awareness to the awareness of the self, Atman, Brahman, Only then they then they possess the experience of the Truth, knowledge of the self and of the Universe. The reason plays a vital role as a

meditor between the subconscient ALL and the superconscient ALL. Superconscient is Light that is itself contained in Supereme Consciousness. Intuition works behind action and intuitional knowledge is gained by Identity. Whereas intuition is not hidden in the Superconscient. It is observed that Reason and mind liberate knowledge. Reality Vedanta lies in the pure Existence. But senses are not aware of it. They know only Form and Movement. The conditions of Existence are Motion of change in Time and Motion of Matter in the space.

Intuition is considered as our first teacher and then appears reason to guide men. Intution is related to Immortality because it is of that world. All rationality is thus, subordinated to Intuition. In nutshell, 'Self is Brahman and all is Brahman'. If man thinks that he is important and all is negligible, it leads him to Ego. But reversing this attitude by the loss of the Ego, man can attain true living. So, withdrawing from ego is envitable in this age as it gives birth to many problems. 'The Synthesis of Yoga' was first published serially in the monthly review, 'Arya' between 1914 and 1921, It's introduction and first two parts were later revised by the writer for its publication. It probes into the traditional systems of yoga and provides an explanation of components of the writers own system of integral yoga. The book has an Introduction 'The Conditions of the Synthesis', and four parts: 'The Yoga of Divine Works', 'The Yoga of Integral Knowledge', 'The Yoga of Divine Love' and 'The Yoga of Self- Perfection'.

He says that in yoga our purpose is to exile the limited outward-looking ego and to enthrone God in its place as the ruling Inhabitant of the nature. In other words, desire must be inherited and not to accept the enjoyment of desire as ruling human motive. The spiritual life will draw its sustenance from a pure and selfless spiritual delight of essential existence. Our egoistic and ignorant thoughts and intelligence must disappear. It must be replaced by a natural self-existent Truth-Consciousness. Our confused, and ego-contened will and action must cease and must make room for the total working of a swiftly powerful, lucidly, divinely guided Force. In the cosmic Life there is the formation of a mental and vital ego associated with the body sense in its progressive evolution. So, there is a condition to dissolute this limiting ego and to arrive at its divine fruition as only the conscious person can find either his transcendent self or his true Person. As human thought falls apart towards two opposite extremes. The one is mundane and pragmatic favours the fulfilment and satisfaction of mental, vital physical ego-sense as the aim of life. Whereas the other one is spiritual, philosophic or religious which regards the conquest of the ego in the interest of the soul, spirit or the ultimate entity.

Purification from egoism is the condition for the ethical progress and elevation, for social good and perfection. It is much more indispensable for inner peace, purity and joy. In the modern world the subordination of the ego to the progress and happiness of the human race is a governing idea but it is not spiritual idea. The spiritual idea requires a series of constant mental, vital and physical vicissitudes. The Condition of The Realization of the Cosmic self is to draw back from mind, life, body and all else that is not our eternal being, is to get rid of false idea of self by which we identify ourselves with the lower existence and we realise only our apparent being as perishable creature in a perishable world. The ordinary individual with egostic consciousness identifies himself with the nodus of his mental, vital, physical experiences in the Universal Nature less intimately with the mind life, body which he possesses and says, it is I Only by detaching himself from all identification with mind, life and body, individual can attain the true consciousness of the Jivatman, the real possessor of life, mind and body.

In that state, individual discovers the oneness of that self with the pure, silent and immutable Brahman. It is required for the traditional aim of Yoga's knowledge, for immergence, for escape from cosmic existence, for release into the absolute and ineffable Parabrahman who is beyond all cosmic being, Then individual may realise the Lord of the universe, the Purusha manifested Himself in all creatares may arrive at cosmic consciousness, may feel his unity with all beings, These are only stages in his spiritual journey. In the state of perfect self-transcendence individual passes out and up from the ignorance into a greater wisdom-self and truth-power, He dwells there in the walled light of a divine knowledge. Thus, individual is changed into the gnostic soul or vijnanamaya purusa. He separates him from this material, this vital and this from mental poise of the universal spirit.

In the opinion of maharishi Sri Aurobindo all yoga including Rajayoga and Hathayoga is in its nature an attempt to arrive at unity with the Supreme, unity with the bliss of Supreme. All Yoga proceed in its method by three principles of practice - purification (the removal of all aberrations, disorders), concentration (full intensity and the mastered and self- directed employment of that energy) and liberation (to release our being from narrow and painful knots of the individualized energy in a false play). These are done as practice in Hatha yoga. It focuses on the body and the Prana, whereas in Rajayoga mind is the key. In both Asana and Pranayama are included. The quintessence of Sri Aurobindo's spiritual phiolosophy is a of synthesis of idealism naturalism, realism and pragmatism. According to him for a sound personality, knowledge, devotion and work (ethics) karma are essential that lead man to the divine path. It not only encoureges man to

work for the noble causes, in the interest of mankind but also assists him to maintain a due distance from humam vices. It helps to improve his mental being. His philosophy is very relevanton in the modern world world. One of his dreams for nation is the spiritual gift of India to the world.

References

1. Aurobindo, S. (2005). The life divine (Vols. 21–22). In The complete works of Sri Aurobindo. Pondicherry: Sri Aurobindo Ashram Publication Department.

Deepak Kumar Shahi
Department of History

North-Eastern Hill University, Shillong
IHC Membership: AM 31693

From Steam-Boats to Rail-Network: evolution of transportation in Bihar

Transport infrastructure is key to economic growth and development in the society. Transportation directly affects the economic activities as well as production in the pertinent region. Change in the mode of transportation leads to the transformation in economy and other aspects of society. In the colonial period, rail lines were introduced in India which caused several changes in the Indian society. Bihar had also gone through this transformation when rail-network was built in the region. Over a period, railway uprooted the existing model of commercial activities and a new economic foundation was laid down. Railway lines construction in Bihar was started by the private firm called East Indian Railways during the latter half of the nineteenth century. This paper attempts to explore the development in the transportation sector in Bihar with special attention to the rail-network construction in Bihar. The first paper discusses the prior mode of transportation and the challenges it posed in journey. The second part focuses on the nature of the railway projects and the circumstance under which the railway construction could take place in Bihar.

The Industrial revolution which travelled from Europe to all around the globe made unprecedented change to the lives of people all around. The technology prior to that was relatively manual, taking a lot of efforts and time in operation. Transportation in Bihar was in similar situation before the advancement introduced by the colonial powers. The major trade centres in the province have been situated on the banks of the mighty rivers, making it easier to travel through water. Although as a landlocked state Bihar was also dependent upon roads, reliance upon rivers were always large. The prominent urban production centres such as Patna, Bhagalpur, Gaya, were already connected through either major rivers or its tributary streams. North Bihar have been submerged at least six months of the year due to the excess rain regularly, and only South Bihar could utilise the roadways as a mode of transportation in the non-rainy seasons. It was also the most preferred way because of the roads in the monsoons used to be unusable and in rest of the year the danger posed by bandits and wild animals. Therefore, riverine transportation was the most

desired and relatively safer way of transportation. As a result, the riverfront used to be the most sought-after land. River ports used to be the origin as well as end point of the road networks covering interior markets and production centres. To safeguard this land area became priority for everyone involved and it led to competition among the parties to secure as much land in their self-interest.[1] However this mode of navigation was not without its own problems. The most prominent was the time consumed in journey. The journey from Calcutta to Allahabad used to be two and half month long by a boat rowed by eighteen men and costed five hundred rupees. For the first class boat the same journey could cost up to triple of this amount and it varied from upstream to downstream.[2] This had to be changed as the company could not afford this much time for moving its men and material from one place to other, especially in challenging times such as political unrest. The East India Company attempted to resolve this issue by introducing coal-based steam engines. Coal loading points also had to be established at regular intervals all along the route for refuelling. It was an important development as the time taken in journey was significantly lesser. The steamers made the journey swifter as they could travel three times faster. This led to emergence of several passenger vessels and private enterprises. Nevertheless, the development was still insufficient by looking at the demands and challenges in long distance journey. The other major issue was space in the river for the vessels to move along especially in seasons except the monsoon. Often, the vessels stuck in sand since water level remained shallow during summer and winter. The cargo had to be sent through bullock after getting vessels unloaded. To reach the destination through carts carrying a large amount of goods was another big challenge due to the dangers in form of bandits and wild-animals regularly loomed alongside the road. More to that the very few available routes were functional all the time.

Once the East India Company took over the administrative control in India, the nature of their economic activities changed and known as the Industrial-Capital phase. This was different from the prior character where intention was to get monopoly over the trade with India. It has been argued that in this era the colonised states got converted into the free market as well exporter of the raw materials. During this period the trade between India and Britain fell in the favour of latter and more to that the former was also provider of raw materials for production. The East India Company was under pressure after the

abolition of its monopoly over trade with India through the Charter Act of 1813. The non-commercial earnings of the Company surpassed commercial earnings and later commercial earning ceased to be almost negligible.[3] The non-commercial earning constituted land revenue and other forms of taxes. This was not enough for company and its stakeholders. At the same time there was need to explore the untapped regions or hinterlands with the trade monopoly of East India Company coming to its end.

In the early decades of the nineteenth century, during the age of rapid industrialisation Britain had been experiencing the "Rail-mania." This phenomenon refers to massive rise of railway shares in the years of 1840s. The zealous investors were keen to build large railway networks all around the country. They had envisaged enormous profit after the railway network connects the market to ports and major productive centres. Once the rail-line covered the major trade-centres and important cities in Britain, the era of exporting rail-roads began.[4] The investors and proprietors of the railway joints were already putting pressure on the government. They projected a picture of industrial development in India through which the isolated parts of the country could be tapped. In order to make maximum profit the railway project was planned on the pattern of industrial-capital model. India would only provide raw materials for the construction of railways on cheaper rate while the parts was to be manufactured in Britain and then exported to India. Thus, investment into railway projects could result in enormous profit for both the investors and the government. It was expected that railways would strengthen the hold of British capitalists over the Indian economy. However, the impact of rail line construction could not be held to the limited vision of the British capitalists. Karl Marx foresaw a different future with the construction of railway networks in India, he states; "I know that the English millocracy intend to endow India with railways with the exclusive view of extracting at diminished expense the cotton and other raw materials for their manufactures. But when you have once introduced machinery into the locomotion of a country, which possesses iron and coals, you are unable to withhold it from its fabrication. You cannot maintain a net of railways over an immense country without introducing all those industrial processes necessary to meet the immediate and current wants of railway locomotion and out of which there must grow the application of machinery to those

branches of industry not immediately connected with railways. The railway system will therefore become, in India, truly the fore-runner of modern industry."[5]

As mentioned earlier the EIC was compelled to generate enough revenue to keep its shareholders interest safe. With Indian market wide open for other traders, it had become necessity to find space for everyone through expanding market by better and rapid communication. With the major objectives of reaping enormous wealth and bolstering its administrative control, the plan to build railway network in India was granted permission in the end. But not everyone was onboard from the beginning as they could sense some problems with it naming feasibility and investment-returns. Railway construction was an expensive plan which needed a guaranteed conducive environment, consisting land acquisition, requirement of raw materials, labours, management, administrative support, and enormous capital investment to be actualised. Governor-General Dalhousie states in his Railway Minute "The object of that experiment is to prove not only that it is practicable to construct railway in India as engineering works but that such railways when constructed will, as commercial undertaking afford a fair remunerative return on the money which has been expended in their construction, so that the public may thereby be encouraged to invest their capital in the construction of similar work in other parts of India."[6] The Railway construction companies had the prior experience of building rail networks in Britain, the United States etc, and they were ardent to repeat that in India. All they needed were free hand from the Court of Directors.

Initially the proposals made by the railway construction companies were not given enough attention because of reasons such as conditions in India, huge investment, feasibility. However, the proposals for experimental lines made some impact and in the year 1844 the East India Railway was established with Rowland Macdonald Stephenson as its managing director. F.W. Simms heading the committee of engineers to assess railway projects in India favoured the construction by private enterprise in his report of 1846. The Governor-General Dalhousie also states the two major prospects as expansion of empire through mobilisation of military and, rapid growth in national capital through multiplicity in production and extended communication, in his famous Railway Minute. Eventually the Court of Directors gave nod and sanctioned the amount of one million pound to lay down experimental rail lines at the major presidencies first. The agreement was signed between

the secretary of states and the Construction companies; the East Indian Railways and The Great Peninsular Indian Railway in the year 1849. The contract gave them financial securities as well the required administrative add so that the construction could take place without any hinderance. The companies were promised five percent interest on the capital raise for the period of ninety-nine years and land on lease for the same period without any charge. The EIC got the control of expenditure and operations of Railways. The Railway was to carry mails for free while movement of military and stores on the minimum rate in return.[7]

By the end of the Industrial-Capital phase India got converted into a sub-ordinate state which was not only a supplier of raw materials but also market for the manufactured goods. The East India Company rule ceased after the revolt of 1857 and India came under direct control of the English empire. This phase termed as the Finance-Capital phase remarks establishment of several service-related private firms such as Post and Telegraph, Banking System and Railways. With these new means of transportation, communication and exchange system not only prior economic interest was secured but also solidarity of administrative mechanism in India could take place. In this phase the economic and administrative interests of the empire were fulfilled by regulating and managing these firms.[8]

Although rail-networks in Bihar could not be laid down before 1860s, to connect Calcutta with the entrepot cities and trade centres of Bihar was always top on priorities. Bihar's geographical location makes it a crucial region. After the battle of Buxar, the East India Company had also known to its strategic and economic importance in form of land revenue generated by fertile land. In 1838 there were two proposals made for railroad between Calcutta to Rajmahal, and Kalna to Rajmahal. The first line would make the movement of material and men swifter between Bihar and Calcutta, while the second would ease the traffic. The report prepared by the chief engineer T.W. Simms consisted three proposed lines, one among them was Calcutta-Rajmahal. This was also called the River Line because it connected Bengal to the United Province via Bihar following the similar route of the Ganges and its tributary rivers. Among other ambitious projects of East India Railway was Calcutta-Mirzapur line with three branches connecting Patna, Rajmahal and Benares. The other proposed line was called the Trunk line this was set to

connect Calcutta to Allahabad following the route of the Grand Trunk Road. The rail-network line started from the south-eastern region of Bihar and then expanded towards the west in its initial phase. Cities situated on the southern bank of the Ganges like Patna, Bhagalpur, Munger were linked in this time. In the later phase network expanded to the down south passing through Gaya, Hazaribagh, Dhanbad, Nawada, Rohtas.[9] By the end of 1920s major districts in the south were already linked through railways. The rail line construction in North Bihar also passed through the cities of Muzaffarpur, Darbhanga, Samastipur, Katihar under the North-Western Railway Project with the end of the nineteenth century.[10]

Conclusion

Railway network in Bihar was constructed parallel to the prior mode of transportation which were river and road. Among the initial two projects one line followed the same route of the Ganges while the other followed GT Road. In a way the railway in Bihar worked as an auxiliary to the river and road transportation. At the same time, it was extensively used by the British only whether the masses still relied upon the river transport mostly. This implies that the trend and pattern of commerce stayed the same at least for the initial years. In this case the switch to Railway took time and this allowed the traditional commerce to stay alive for the coming few decades. The officials were sceptical for the success of Indian Railway despite the hype in Britain. This made the railway projects to go through exhaustive scrutiny and only after a long process of reconsideration the construction could take place. This much alertness and attention made Railway a fruitful project for the British however, the financial burden went on to the Indian taxpayers. With the construction of railway network, construction of bridges over major rivers in Bihar also started simultaneously. Eventually a triple network of transportation in forms of rail, river and road strengthened the communication in the region. Railway gave the British access to the interior remote regions which resulted in introduction of commercial crops followed by change in commerce. This also allowed the police, judiciary, and the other aspects of British administration to enter the villages of Bihar which were pretty much autonomous on these grounds. The role of Railways in the phenomenon of mass migration from Bihar cannot be overestimated. This paved the way for mass exchange of economic, social, and commercial activities and which also made

people conscious about Indian nationalism in longer run. However, the primary goal for railway construction was successfully achieved by the British by extracting raw materials in terms of agricultural produce, natural resources. In the process the British could penetrate the isolated regions and take over the control.

References-

1. B.B. Kling, Partner in Empire, California Press, 1976, p.103.
2. Police Notification dated 10 March 1781, cited in W.H. Carey, The Good Old Days of Honorable John Company, Calcutta, 1882, p. 15.
3. Amiya Kumar Bagchi, Colonialism and the Nature of 'Capitalist' Enterprise in India, Economic and Political Weekly, Jul. 30, 1988, Vol. 23, No. 31 (Jul. 30, 1988), pp. PE38-PE50.
4. S. McCartney, A. J. Arnold, The railway mania of 1845-1847 Market irrationality or collusive swindle based on accounting distortions? Accounting, Auditing & Accountability Journal,Vol. 16 No. 5, 2003 pp. 821-852
5. Karl Marx, The Future Results of the British Rule in India, The New York Daily Tribune, New York, August 8, 1853.
6. Roopa Srinivasan, Manish Tiwari, Sandeep Silas, Our Indian Railway Themes in India's Railway History, Foundation Books, London, 2006, pp. 26-27.
7. Dan Bogart and Latika Chaudhary, Regulation, Ownership, and Costs: A Historical Perspective from Indian Railways, American Economic Journal: Economic Policy, February 2012, Vol. 4, No. 1, February 2012, p.29.
8. Amiya Kumar Bagchi, Op. cit. pp. PE46-PE48.
9. Anand A. Yong, Bazar India, Markets, Society, and the Colonial State in Gangetic Bihar, California Press, February 1999, p. 49.
10. W. W. Hunter, A Statistical Account of Bengal, Vol. 13, Tirhut and Champaran, London, Turbnor and Co. 1877, pp. 121-124.

Michael KC Thanga

Research Scholar
Department of Philosophy
North Eastern Hill University,
Umshing, Mawlai, Shillong-793022

The Real of the Virus

Abstract: This article explores the need for the philosophical understanding of the current situation due to the Pandemic. Covid-19 as a matter of objective and social fact tends to align along with our existential attitudes, beliefs regarding the seriousness of the Covid-19 pandemic and our Ideological commitments. Decisions about the measures and obligations we have adopted such as social distancing, wearing masks rely in part on how one evaluates the nature of the virus. In this article I investigate the relationship between one's Ideology developed through beliefs, Ideologies and Covid-19 oriented stances. Furthermore, this article explores the virus is much more than a natural intrusion into the human world. It reveals our interconnectivity, as being-in-the-world, that the virus is not just an external intrusion disrupting our world. Taking the Lacanian psychoanalytic perspective on the master signifier and the Real as a traumatic intrusion into our life world, Covid-19 is an Event (Badiou), produced by our social, technological, environment ecosystem. This article concludes by our need to rethink our global economy relying on the market mechanism and our need to address the truth of our situation.

Keywords: Covid-19, Ideology, Event.

INTRODUCTION

The Pandemic seems to connote to the populist that the time for philosophy is over; who cares about learning metaphysics and how to live when science could almost solve all the problems in the world. These critics have missed out a very crucial point. The ongoing pandemic is not only about the immense economic and social problems, it has become more and more a real conflict of our global vision about society. The crisis has clearly shown our own different existential approaches, while there is a division between maskers and anti-maskers, who believe the virus is an ideology propagated by the rulers for social control and those who do not and so on. This conflict in belief is precisely existential, one

which cannot be simply scoffed at, rather it ultimately depends on one's basic stance towards being human. The conflict is also based on certain political stance, a Utilitarian view ready to sacrifice the minority in order to save lives of the majority, a Libertarian view who would reject any coercive regime that encroaches the individual freedom, or even the religious or spiritualist view who think that the Pandemic is a punishment from God or Nature for going against order. The present situation forces us towards a new need for understanding and developing an attitude, a philosophical one.

IDEOLOGY AND THE VIRUS

It was Li Wenliang, an ophthalmologist, who whistle-blowed the danger of the outbreak and posted his story on Weibo from a hospital bed a month after sending out his initial warning.[1] Nevertheless the authorities took him to the police station instead for "spreading false rumours" and "disrupting social order". A Hong Kong-based journalist Verna Yu commented, "If China valued free speech, there would be no coronavirus crisis. Unless Chinese citizens' freedom of speech and other basic rights are respected, such crises will only happen again . . . Human rights in China may appear to have little to do with the rest of the world but as we have seen in this crisis, disaster could occur when China thwarts the freedoms of its citizens. Surely it is time the international community takes this issue more seriously."[2] Besides the authoritarian functioning of the Chinese state, the ongoing epidemic has also triggered a network of ideological viruses in our societies such as conspiracy theories, fake news and of course racism. First, there was a denial of the epidemic in a form of temporality or will subside soon like that of the SARS, then comes the blame and anger usually in the form of racism-- "China-virus or Corona-jihad", then comes the conspirators aspect in the form of a biological weapon developed in Wuhan lab.[3] The virus is real but the contagion is not without Ideology. Any form of Pandemic carries a subset of ideological viruses which lies dormant in our modern society. A Foucauldian would assume that there is a close semblance of the measures taken by various state government apropos to the Covid-19 with that of the seventeenth century as Foucault notes: "During the seventeenth century pandemic, a severe norm of spatial distancing was evoked, towns and districts were close down. Leaving the town and merely strolling out were prohibited. Inspections and gaze functions ceaselessly. The civilians are prompted absolute obedience to the newly enacted laws and the bodies of militia were

deployed to ensure the abidance of the regulation. The syndics would stop at every house, he calls each of them by their names; in this way he would know 'whether the sick or dead are concealed'. Individuals living or dead are observed at every point, located and examined."[4] Furthermore, the plague is met by a form of order that is a compact model for exercising disciplinary power and rulers dreamt of such a state. Giorgio Agamben, being a Foucauldian, responded to the state's decision to declare a 'state of emergency' by imposing various bans as a means to make docile bodies. Agamben speaks of human life reduced to 'naked life' or 'bare life', a concept theorized in Agamben's Homo Saucer.[5] In the state of emergency, the individual's rights can be diminished in the process of the government taking hold over an individual's rights due to extension of power. Such arrays of measures subtracted the individual squarely to cling to mere 'naked life', thereby abolishing the very humane and the social. It is crucial to note here that neither Foucault nor Agamben thought the plague and Covid-19 is a mere hoax, rather they are more focused on the measures taken by the government and such reflections are fundamental to understand the political effect of the past, present and future.

COVID-19 AND THE EVENT

` The narrative of Covid-19 has been depicted generally by the political and the media as an inconsistent or wild nature inflicting a trauma upon humanity. Billions of dollars were funded by the Capitalist to investigate and search for the panacea for overcoming it. However, the virus is nature itself, like the Australian forest fires, it is not external or outside trauma haunting humanity, but it is part of the set of complex networks 'nature-humanity-technology' acting together, an actant. Covid-19 is an event, an event according to Actor-Network theorist occurs when the non-human actants and humans form a stable network.[6] Covid-19 evolved within the ecosystem consisting of human and animals, marketplaces and viruses, urban and social networks and globalisation. Collectively our interaction with the non-human actants became viable enough for enabling the pandemic to occur and spread. These networks of social interaction and activity are certainly which viruses would thrive and mutate. The more we are connected, even a local disaster can disrupt a whole mechanism of the function, just as a human body. Such an event would go unnoticed a century ago. This is a paradox at work here: technological development makes us more connected, makes us more independent

from nature but at the same time much more dependent on nature's whims.

The virus is just a sub-layer of life, non-living, idiotic but that can trigger a global fear and a catastrophe. Covid-19 is not only a virus going viral. The Covid-19, a fact of our social reality is also fused with real and fantasy, a signifier. According to the Psychoanalyst Jacques Lacan, fantasy supports the frame of what we experience as reality.[7] Therefore, our whole frame of perception and reaction of the epidemic is sustained by multitudes of fantasies, how each individual's perception of the real of the virus and its social impact, etc, may differ. The virus, as a signifier, is a master signifier. A tyrannical form of signifier because it's dominating appearance is such that nothing else is allowed to think about, it is a tyrant of our thoughts. A master signifier unleashing a chain of signifiers, a signifier, with facts and fictions going viral, political and social anxieties going viral, news of deaths and recoveries going viral, and narratives and stories going viral. No wonder the social fact that the virus brought halt to the world yet it is also a fact that many people are also at the same time dying of other diseases, hunger, war and pollution.

Covid-19 as an 'Event' is a short-circuit, a disruption of our normal smooth functioning life-worlds and exposes our fragility in the face of even some almost non-living matter like the Virus. It is a traumatic encounter with the (Lacanian) Real[8] in our world of fantasy, which disturbs our coherency. The Real in psychoanalytic terms is a surplus of reality, a traumatic event encountered which escapes language and cannot capture it. It is beyond knowing but it is a Truth that makes its appearance in an unsymbolisable sense and cannot be withdrawn from it. The event encountered is similar to that of the Badiouan 'Event', an 'Event' Alain Badious writes is 'a multiple which basically does not make sense according to the rules of the situation'.[9] Furthermore, a multiple is also a subset of other multiples and so on. Covid-19 is such an Event, a multiple, there is no single cause whether it is Capitalism, climate change, China or conspiracy, that is able to properly explain it entirely. Nor can it be multitudes of causes, a result of contingent over-determination of processes. It is something unexpectedly emergent, arising from the collective functioning of a system, it does not belong to the elements of the system but have a potentiality lying dormant within the system itself. In set-theoretical terms, it is the

subset within a set, it does not belong to the set(system) but is included in it. Therefore, the pandemic is not about the contradiction between the binaries of human versus the virus, human versus nature, because it is an Event produce by the interconnected ecosystem.

WHAT NEEDS TO BE DONE?

Our situation proposes urgent demands which require an urgent response. Primarily, focus is still too much based on checking the statistics of Covid-19 on the number of infected, dead and recovery. The fascination of statistics automatically leads to the forgetting of the fact that many more people are dying of poverty, health issues, pollution, war and domestic violence as if when we get rid of the viral infection society will run a normal course and troubles will disappear. This sort of optimism is an illusion at its best and we must focus more on the issue of other problems which exposes a further worst threat such as global warming and the likes. The pandemic disturbs the functioning of our Markets and our economic systems are panicking. This also exposes our sole reliance on the market mechanisms and it indeed signals the urgent need for a reformulation of the global economy which will not be solely based at the mercy of market mechanism. It is also a crucial time for us to take simple fact seriously as announced by the Director General of the World Health Organization, Tedros Adhanom Ghebreyesys:

"The greatest threat we face now is not the virus itself. Rather, it's the lack of leadership and solidarity at the global and national levels. We cannot defeat this pandemic as a divided world. The COVID-19 pandemic is a test of global solidarity and global leadership. The virus thrives on division, but is thwarted when we unite."[10] To take this statement seriously, we have to thwart and take into account of divisions at the level of international divisions, class, caste and creed divisions. It is not difficult to imagine that the epidemic will spread rapidly among people living in poverty than the rich. Certain people who are economically weaker have to make a forced-choice between not only starvation and rising life but also having to bear responsibility for the possible spread. We have to acknowledge not only the doctors and nurses working on the frontline, but also those industrial workers who are either exploited or overworked since their work is more clandestine and people do not know the harsh condition of their work environment

especially during this pandemic. It will be impossible to contain the viral pandemic without also containing the pandemic of poverty.

In order to successfully contain the virus that threatens our lives, our predominant stance (whatsoever stance we possess) should not be scepticism or 'the will-not-to-know' but that of the 'will-to-know', to know that working of the Covid-19 so as to contain it. The states are much more responsible now than before, a need for strong governing authorities is needed along with the collective local participation from the individuals. We must follow Immanuel Kant's line of reasoning in "What is Enlightenment" regarding the law of the state: "Obey, but think, maintain the freedom of thought!". We must bravely use our 'public use of reason'.

REFERENCES

1. https://www.bbc.com/news/world-asia-china-51403795
2. https://www.theguardian.com/world/2020/feb/08/if-china-valued-free-speech-there-would-be-no-coronavirus-crisis.
3. https://www.thehindu.com/news/international/the-superspreaders-behind-top-covid-19-conspiracy-theories/article33840009.ece.
4. https://www.journal-psychoanalysis.eu/coronavirus-and-philosophers/.
5. https://thewire.in/society/coronavirus-of-our-discontents.
6. For non-human actants and human actors see Bruno Latour (2005). https://ksangmin.wordpress.com/2009/07/08/bruno-latour-the-pasteurization-of-france/.
7. Ormrod J.S. (2014) Fantasy in Lacanian Theory. In: Fantasy and Social Movements. Studies in the Psychosocial Series. Palgrave Macmillan, London. https://doi.org/10.1057/9781137348173_4.
8. For the Lacanian concept of the Real see https://nosubject.com/Jacques_Lacan:Real.
9. Alain Badious (2007).
10.https://www.who.int/director-general/speeches/detail/who-director-general-opening-remarks-at-the-member-state-briefing-on- the-covid-19-pandemic-evaluation 9-july-2020.